UNIVERSAL LIBRARY
OU_186723
UNIVERSAL LIBRARY

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

cked 196

चौथी बार : १९५५
कुल छपी प्रतियां : १३,०००
मूल्य
आठ आना

Checked 1969

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

निवेदन

स्वराज्य-शास्त्र-संबंधी इस छोट-से टिप्पण की कल्पना दरअसल नाग-पुर जेल में की गई थी। उसीको कुछ सुधारकर पाठकों के सामने रक्खा जाता है। मुझे कहना चाहिए कि अगर श्री बियाणीजी इसे आदरपूर्वक ही नहीं, बल्कि आग्रहपूर्वक भी, खुद 'कलमनवीस' बनकर मुझसे न कहलवाते तो कम-से-कम फिलहाल इसके साकार होने की बहुत सम्भावना नहीं थी।

'राज्य' एक बात है 'स्वराज्य' दूसरी बात है। राज्य हिंसा से प्राप्त किया जा सकता है; किन्तु 'स्वराज्य' बिना अहिंसा के असम्भव है। इसलिए जो विचारशील है वे 'राज्य' को नहीं चाहते; बल्कि यह कहकर तड़पते रहते हैं कि 'आओ, हम सब स्वराज्य के लिए जतन करें।' "नत्वहं कामये राज्यम्" यह उनका निषेधक और "यतेमहि स्वराज्ये"—यह विधायक राजनैतिक उद्घोष उनका होता है।

'स्वराज्य' वैदिक परिभाषा का एक शब्द है। उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है: स्वराज्य माने प्रत्येक व्यक्ति का राज्य, यानी ऐसा राज्य जो प्रत्येक को 'अपना' लगे, अर्थात सबका राज्य, दूसरे शब्दों में 'रामराज्य'।

स्वराज्य-शास्त्र नित्य-वर्धिष्णु है; अतः उसकी पद्धति देश-काला-नुसार सतत परिवर्तनशील है; परन्तु उसके मूलतत्त्व शाश्वत है। उन शाश्वतों के आधार पर यह रूपरेखा खींची गई है। यह तो कहना नहीं होगा कि इसका विस्तार जितना चाहो किया जा सकता है। इस काम को यथा-सम्भव व यथावश्यक भविष्यकाल के हवाले कर, फिलहाल, यहीं विराम करना ठीक रहेगा।

नालवाड़ी
२-२-४२

—**विनोबा**

विषय-सूची

प्रश्न पहला — ७-१६

१

१. राजनैतिक प्रश्न किसे कहते हैं ?
२. राजनैतिक प्रश्न की प्रचलित कृत्रिम व्याख्याएं
३. राजनैनिक प्रश्न को स्वाभाविक व्याख्या
४. स्वाभाविक त्रिविध राज्यपद्धति
५. त्रिविध राज्यपद्धति के सम्भवनीय प्रकार
६. राज्यपद्धति के अवान्तर भेद तत्त्वत: अभिन्न

२

७. सर्वायतन-पद्धति कहीं नहीं है; उसका स्वरूप
८. एकायतन-पद्धति आज तक जारी रही है; उसका स्वरूप
९. अल्पसंख्यायतन-पद्धति : विद्यमान प्रकार और स्वरूप
१०. बहुसंख्यायतन-पद्धति : रूसी प्रयोग

प्रश्न दूसरा — १७-२७

१

११. जनता जीवननिष्ठ : वाद और पद्धतियां उसकी साधनीभूत
१२. राज्यपद्धतियों का चतुर्विध निष्कर्ष
१३. राज्यपद्धतियों के विविध विशेषण
१४. महत्त्व का मुद्दा : सार्वराष्ट्रीय अविरोध अथवा भ्रातृभाव
१५. राज्यपद्धति का आदर्श

२

१६. नासी, फासी और रूसी वादों का स्वरूप; तीनों भ्रमपूर्ण
१७. इन वादों की थोड़ी और तुलना; उनके मूढ़ग्राह
१८. मैज़िनी के इटली की दुरवस्था; जनता-रक्षा के नाम पर क्षत्रिय-वर्ग - का नेतृत्व
१९. समाजवाद अधिक रोचक और संशोधन-क्षम

प्रश्न तीसरा **२८-५३**

१

२०. निर्दोष पद्धतियों का चतुर्विध लक्षण
२१. लोकमत समर्थ व्यक्तियों को जनता की सेवा में लगानेवाला हो
२२. लोकमतानुसारी पद्धति में अनुशासन अन्तर्हित
२३. कृपण भी चोर के समान अनुशासनीय
२४. सम्पत्ति के प्रयोजन
२५. उदाहरण : पुराना और आज का अध्यापक-वर्ग
२६. सम्पत्ति देने से दुगनी होती है
२७. देने में ही मानव का संतोष, लेकिन मालिकाना-हक की कल्पना बाधा देती है
२८. कुटुम्बगत आर्थिक व्यवस्था समाज पर लागू करना राज्यव्यवस्था का कार्य : अन्धपंगु-न्याय से

२

२९. गांव स्वयंपूर्ण होने चाहिए; उसके लिए ग्रामोद्योग ही समर्थ
३०. साम्यवादियों की योजना खतरे की
३१. अन्योन्यावलम्बन सरल चाहिए, व्यामिश्र नहीं
३२. स्वयम्पूर्ण राज्यसंस्था और मानव्य की विशाल कल्पना

३

३३. राज्यव्यवस्था हमेशा मानवसापेक्ष ही रहेगी
३४. इसलिए सत्याग्रह का संरक्षण जरूरी
३५. वास्तविक सहकार और असहकार की पात्रता
३६. जनता को असहकार और प्रतिकार की तालीम देना जरूरी
३७. समाज-जीवन में असहकार का स्थान नित्य
३८. असहकार की तालीम की दिशा : यमनियमविवेक
३९. अहिंसा इतिहाससिद्ध : हिन्दुस्तान का उदाहरण
४०. जन, सज्जन और महाजन, तीनों का मिलाप अहिंसा में ही
४१. वही दुर्जनों के लिए हमेशा का दबदबा

४

४२. पारिश्रमिक मूल्यों की मीमांसा

४३. 'सेवा की आर्थिक कीमत' यह भाषा ही गलत
४४. कौटुम्बिक न्याय : यथाशक्ति प्रामाणिक श्रम और तुल्य वेतन व समान संरक्षण
४५. मीमांसा का निष्कर्ष
४६. ठेकेदारों का दृष्टान्त और श्रमभेदों का समाधान
४७. सामुदायिक जिम्मेवारी उत्कृष्ट प्रेरक तत्त्व
४८. इस दृष्टि से हिन्दूधर्म का एक महान प्रयोग : वर्ण-व्यवस्था
४९. आग्रह प्रकार का चाहिए, न कि आकार का

प्रश्न चौथा ५४-५९

५०. हिंसक प्रयोगों की परिणति : संकुलयुद्ध
५१. उसपर से अहिंसा की युक्ति-सिद्धता
५२. अहिंसा में 'सेर के लिए सवा सेर' नहीं
५३. अहिंसा का राष्ट्रव्यापी प्रयोग एक तरह से व्यक्तिगत प्रयोग की अपेक्षा सुलभतर
५४. अहिंसा के लिए भी शिक्षा, संगठन और त्याग अनिवार्य
५५. अहिंसक व्यवस्था अतिमानवीय नहीं है

प्रश्न पांचवां ६०-६४

५६. अकेला भी अहिंसक राष्ट्र सार्वभौम सहानुभूति के वज्रकवच में सुरक्षित
५७. अहिंसक राष्ट्र अकुतोभय
५८. दुर्बल अहिंसा का लक्षण; उसमें रक्षण का अभाव
५९. अहिंसक व्यवस्था भीतरी अराजक और बाहरी आक्रमण से निर्भय
६०. आदर्श अहिंसक व्यवस्था में पुलिस नहीं, सेवक-वर्ग रहेगा

स्वराज्य-शास्त्र

प्रश्न पहला

प्रश्न—आज संसार में कितने और किस प्रकार के राजनैतिक विचार प्रचलित हैं ?

१

उत्तर—(१) सबसे पहले हम यही देख लें कि राजनैतिक विचार तत्त्वत: कितने प्रकार के हो सकते हैं। तत्त्वत: जितने प्रकार के हो सकते हैं, उनकी अपेक्षा आज के प्रचलित प्रकार या तो कम होंगे या उतने सब होंगे। उनसे अधिक नहीं हो सकते। लेकिन इसका उत्तर भी इस प्रश्न पर निर्भर है कि राजनैतिक विचार कहते किसे हैं? इसलिए पहले उसी प्रश्न के विवेचन से हम शुरूआत करें।

राजनैतिक प्रश्न किसे कहते हैं ?

संसार में अगर एक ही मनुष्य होता तो उसके सामने राजनैतिक विचार का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उसके सामने सिर्फ इतना ही सवाल होता कि अपना जीवन चलाने के लिए वह आसपास की सृष्टि का कितना और कैसा उपयोग करें; लेकिन मनुष्यों का तो एक समूह विद्यमान है। इसलिए उसके सामने इस भौतिक प्रश्न के अतिरिक्त दूसरा सामाजिक प्रश्न भी आता है। अर्थात् इस प्रश्न के अलावा कि सृष्टि पर अधिकार कैसे किया जाय, एक दूसरा भी उतने ही महत्त्व का प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि आपस

में व्यवस्था कैसे कायम की जाय ? इस दूसरे प्रश्न में से ही हम जिसे राजनैतिक विचार कहते हैं, उसका उद्गम होता है।

पारस्परिक व्यवस्था का पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य की मिलकियत—जिसमें जमीन और तदितर दोनों शामिल हैं—आपस में कैसे बांटी जाय ? और दूसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य अपने पारस्परिक व्यवहार में समाज के मानसिक सुख-दुःख का सन्तुलन कैसे सम्भाले ? पहले प्रश्न को मुख्यतः राजनैतिक प्रश्न कहते हैं और दूसरे को सामाजिक; परन्तु ये दोनों हमेशा एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इसलिए व्यापक दृष्टि से राजनैतिक प्रश्न में ही आखिर दोनों का समावेश हो जाता है। सारांश, 'राजनैतिक प्रश्न माने मानव-समूह या मानव-समूहों की व्यवस्था का प्रश्न'—यह उसकी संक्षिप्त परिभाषा बनती है।

राजनैतिक प्रश्न की प्रचलित कृत्रिम व्याख्याएं

(२) (अ) आज मनुष्य-समाज में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग ये तीन वर्गभेद अकारण किये जाते हैं और ये तीन वर्ग पारस्परिक व्यवस्था किस प्रकार करें, ऐसा राजनैतिक प्रश्न का कृत्रिम अर्थ किया जाता है। (आ) हिन्दू-समाज में कार्य-विभागानुसार वर्ण-विभाग की कल्पना की गई है और ये वर्ग आपस में व्यवस्था कैसे कायम करें, यह राजनैतिक प्रश्न का दूसरा एक कृत्रिम अर्थ किया जाता है। (इ) संसार में कुछ लोगों के पास सम्पत्ति इकट्ठी हो गई है और कुछ लोग उससे वंचित हैं। आज की इस स्थिति के लिहाज से धनी और गरीब, इन या इस तरह के दो वर्गों की कल्पना करके ये दोनों आपस में व्यवस्था किस तरह कायम करें, यह राजनैतिक प्रश्न का और भी एक कृत्रिम अर्थ किया जाता है।

इन तीनों व्याख्याओं को कृत्रिम इसलिए कहा है कि उनकी सृष्टि काल्पनिक या अ-मूलभूत भेद की नींव पर है। 'ऊपर' 'नीचे' और 'बीच' का अर्थ कल्पना के सिवा कुछ भी नहीं है। तीन, चार या अधिक वर्ण हमारे ही बनाये हुए हैं। इसलिए उसके आधार पर रची गई विचारप्रणाली भी काल्पनिक, याने हमारी कल्पना की ही है। और जहां वह पाई जाती है, वहां उसे मिथ्या के अर्थ में काल्पनिक न कहें तो भी वह मूलभूत तो हरगिज नहीं है। धनवान और गरीब के भेद को काल्पनिक कहना मुश्किल मालूम होता हो तो भी वह मूलभूत भेद तो कतई नहीं है। अर्थात् वह कारणरूप नहीं है, कारणविशेष का कार्य है। और सूक्ष्म विचार किया जाय तो यह भेद काल्पनिक भी है। याने धनवान को रुपये-पैसे के कारण धनवान और गरीब को रुपये-पैसे के कारण गरीब कहें तो इसके विपरीत, गरीब श्रमशक्ति की दृष्टि से धनवान और आज का धनवान कहलानेवाला श्रमशक्ति की दृष्टि से गरीब कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'धनवान' और 'गरीब' ये भेद भी कल्पनाएं ही साबित होने लगती हैं।

इन तीन तरह के भेदों के अलावा भाषाभेद और धर्मभेद को लेकर पारस्परिक व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित किया जाता है और उसे राजनैतिक रूप दिया जाता है। लेकिन थोड़े विचार के बाद ज्ञात होगा कि ये भेद भी मूलभूत नहीं हैं।

(३) तो फिर मानव-समूह की व्यवस्था का विचार मूलभूत और स्वाभाविक रूप से कैसे किया जाय?

राजनैतिक प्रश्न की स्वाभाविक व्याख्या

कुछ व्यक्ति स्वभावतः याने निसर्गतः ही अधिक बुद्धिमान या अधिक शक्तिशाली होते हैं। अर्थात् कुछ कम बुद्धिवाले या अल्प शक्तिवाले होते हैं। बुद्धि और शक्ति दोनों का समावेश 'सामर्थ्य' शब्द में हो सकता है। जिन्हें

हम सम्पत्ति, साधन-सामग्री, दर्जा (रुतबा) आदि कहते हैं, वे सारी बातें सामर्थ्य में से उत्पन्न होती है। इसलिए मनुष्यों में, कुछ समर्थ और बहुतेरे अ-समर्थ, इस तरह के दो वर्गों की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन उनके वर्ग-रूप में सिद्ध होने के लिए उनमें संगठन की कल्पना करनी होगी। याने यदि सारे समर्थ व्यक्ति संगठित होकर एक हो जायं तो समर्थों का वर्ग सिद्ध होगा, अन्यथा वह एक कल्पना-मात्र ही रहेगा। असमर्थ एक हो जायं, तो उनका वर्ग बनेगा। लेकिन बनते ही वह आत्महत्या कर लेगा। अर्थात् वह असमर्थ नहीं रहेगा, बल्कि समर्थ बन जायगा; क्योंकि सामर्थ्य जिस प्रकार शक्ति और बुद्धि से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार संख्या से भी उत्पन्न होता है। इसके विपरीत, अगर वह संगठित न हो तो वर्ग के रूप में वह एक कल्पना-मात्र ही रहेगा।

सारांश यह कि समाज में स्वाभाविक रूप से वर्ग जैसी कोई चीज ही नहीं है, कम या अधिक सामर्थ्यवान व्यक्ति हैं। 'ये कम या अधिक सामर्थ्यवान व्यक्ति मिलकर अपनी व्यवस्था कैसे करें ?'—यह राजनैतिक प्रश्न का मूलभूत और स्वाभाविक अर्थ सिद्ध होता है। इसमें से अ-मूलभूत और काल्पनिक कई प्रश्नों की कल्पना या रचना की जा सकती है और फिर उनका समाधान भी करना होता है।

स्वाभाविक त्रिविध राज्यपद्धति

(४) इसलिए व्यवस्था-निर्माण के तीन स्वाभाविक प्रकार होंगे—(अ) कोई प्राज्ञ या समर्थ व्यक्ति सबके लिए व्यवस्था करे। (आ) अनेक प्राज्ञ या समर्थ व्यक्ति एकत्र होकर सबके लिए व्यवस्था करें। (इ) सब मिलकर समान जिम्मेदारी से अपनी व्यवस्था कर लें। राज्य-व्यवस्था

के इन तीन स्वाभाविक प्रकारों को हम 'एकायतन' 'अनेकायतन' और 'सर्वायतन' ये परिभाषिक नाम दें।

त्रिविध राज्यपद्धति के सम्भवनीय प्रकार

(५) परन्तु नैसर्गिक भेद ये तीन ही बनते हों तो भी उनमें से कई स्वाभाविक और कृत्रिम अथवा काल्पनिक परन्तु अवश्य विचारणीय उपाधियों के आधार पर अवान्तर भेद भी उत्पन्न हो सकते हैं। एकायतन और सर्वायतन, ये दो प्रकार सर्वथा ऐकान्तिक, अतएव एकविध, हैं। लेकिन अनेकायतन पद्धति दूसरी अनेक पद्धतियों को जन्म दे सकती है। उसके दो स्वाभाविक विभाग होते हैं, अल्पसंख्यायतन और बहुसंख्यायतन। 'बहुसंख्या' याने वह श्रमपरायण आम जनता, जिसे लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती का हिस्सा बहुत थोड़ा नसीब हुआ है। उसका स्वरूप आम तौर पर सब देशों में और सब कालों में प्रायः एक-ही-सा होता है। इसलिए बहुसंख्यायतन राज्यपद्धति एकविध ही ठहरती है। बाकी बची अल्पसंख्यायतन राज्यपद्धति में से शास्त्रिक सत्ता, शास्त्रिक सत्ता और धनिक सत्ता, ये तीन एकदल सत्ताएं मूलतः उत्पन्न होती हैं। इन तीनों में से दो-दो के मिश्रण से शास्त्र-शास्त्रिक, शस्त्र-धनिक, धनशास्त्रिक, ऐसी तीन द्विदल सत्ताएं पैदा होती हैं। उनमें से फिर महत्त्व-तारतम्य के अनुसार शस्त्र-शास्त्रिक धन-शस्त्रिक, और शास्त्र-धनिक, ऐसी और भी तीन द्विदल सत्ताएं होती हैं। इस प्रकार कुल छः द्विदल शाखाएं उत्पन्न होंगी। उसी प्रकार तीन मूलभूत एकदल सत्ताओं में से तीनों के समवाय और तारतम्य से शास्त्र-शस्त्र-धनिक आदि छः त्रिदल शाखाएं निकलेंगी। यहां यह विस्तार खतम होता है।

इस तरह कुल अठारह प्रकार होते हैं। उनका चित्र हम इस प्रकार खींचें:—

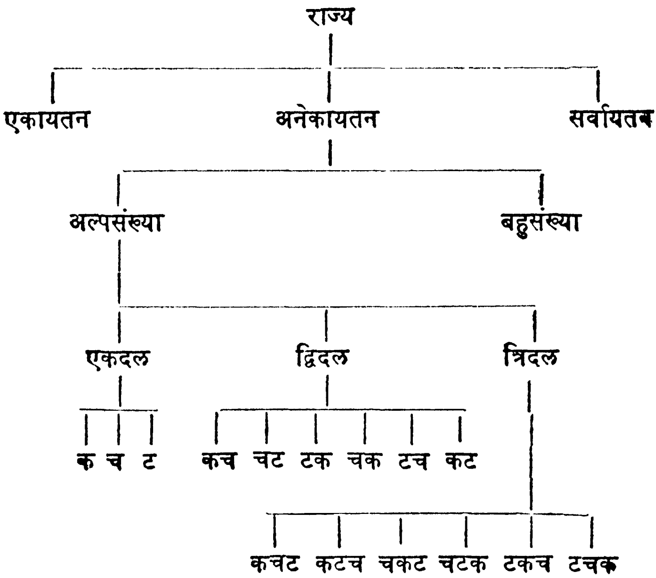

खुलासा : क=शास्त्रिक, च=शास्त्रिक ट=धनिक

राज्य-पद्धति के अवांतर भेद तत्त्वतः अभिन्न

(६) इन अठारह प्रकारों से अधिक राज्य-व्यवस्था के प्रकार तत्त्वतः नहीं हो सकते। वार्णिक—यथा गोरों की कालों पर, सवर्ण हिन्दुओं की अवर्ण हिन्दुओं पर; वांशिक—यथा, ईसाइयों की यहूदियों पर, राष्ट्रिक—यथा इंग्लैंड की हिन्दुस्तान पर, नागरिक—यथा, पुराने रोम शहर की तत्कालीन संसार पर, आदि दूसरी अनेक सत्ताएं अलग-अलग नामों से भले ही प्रकट हुई हों, लेकिन तत्त्वतः उन सबका समावेश उपर्युक्त अठारह प्रकारों में कहीं-न-कहीं हो जायगा।

२

(७) राजसंस्था की बौद्धिक छान-बीन करने के बाद कितने प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं, इसका विचार अबतक किया। इससे यह स्पष्ट है कि आज दुनिया में इन्हीं में से कोई-न-कोई प्रकार अलग-अलग नाम धारण करके प्रचलित होंगे। यह बात बिलकुल स्थूल-बुद्धि व्यक्ति के भी ध्यान में आ सकती है कि आज सर्वायतन राज्यपद्धति कहीं भी विद्यमान नहीं है। वह प्रयत्न गांधीजी कर रहे हैं और उसके साधन का शोध भी उन्होंने किया है, जिसका प्रयोग वह भारत में करना चाहते हैं।

सर्वायतन-पद्धति कहीं नहीं है; उसका स्वरूप

प्रजातन्त्र का नाम धारण करनेवाली और सर्वायतन होने का दिखावा करनेवाली एक राज्यपद्धति है, जिसका स्वांग यूरोप और अमरीका में बनाया जा रहा है, लेकिन हिंसा पर आश्रित कोई भी पद्धति, वह जितने सिर उतने मत, गिनने का दम्भ भले ही करे, दरअसल सर्वायतन नहीं हो सकती।

इसके विपरीत, सब लोग मिलकर स्वेच्छा से और सोच-समझकर अपने में से किसी एक को या अनेकों को राग-द्वेष रहित, भूत-हित-तत्पर, बुद्धिमान और कुशल जानकर सारी सत्ता सौंप दें, तो वह सत्ता आकार में एकायतन अथवा अनेकायतन भले ही प्रतीत हो, अगर उसका आधार अहिंसा है तो उसे सर्वायतन ही मानना चाहिए।

हिन्दुस्तान के पुराने पंचायती राज्य को इस तरह का कुछ अधकचरा परन्तु प्रामाणिक प्रयत्न कह सकते हैं; लेकिन पंचायतों का संयोजन करानेवाली व्यवस्था के अभाव में उस प्रयत्न को अशास्त्रीय और आज की परिस्थिति के लिए अपर्याप्त कहना पड़ता है।

इतना कहना काफी होगा कि इस समय सर्वायतन-पद्धति कहीं भी प्रचलित नहीं है और आइन्दा उसकी स्थापना करनी है।

एकायतन-पद्धति आज तक जारी रही है। उसका स्वरूप

(८) एकायतन-पद्धति शुरू से अबतक कई जगह जारी है। हमारी देशी रियासतें उसके नजदीक के उदाहरण माने जा सकते हैं। इन रियासतों का मूल संस्थापक जितना निरंकुश या अहम्प्रमाण होता था, उसकी अपेक्षा उसके बाद वंश-परम्परा से आनेवाले बने-बनाये राजा अकसर कहीं अधिक निरंकुश और अहम्प्रमाण होते हैं। मूल संस्थापक को कमाई करनी होती है। इसलिए इच्छा हो न हो, उसे अनेकों से सहयोग करना पड़ता है। बाद में आनेवाले इस तरह की कोई जिम्मेदारी महसूस नहीं करते। इसलिए वे अधिक गैरजिम्मेदार बन सकते हैं। कहा भी है कि सूर्य उतना नहीं तपता, जितनी कि बालू तपती है। संसार के दूसरे हिस्सों में भी कई जगह एकायतन-पद्धति ज्यों-की-त्यों चालू है।

अल्पसंख्यायतन पद्धति : विद्यमान प्रकार और स्वरूप

(९) अल्पसंख्यायतन-पद्धति के कुछ प्रकार यूरोप में और अन्यत्र विशेष प्रबल हो रहे हैं। नात्सीवाद, फासिस्टवाद, साम्राज्यवाद, ये सब कम या अधिक मात्रा में अल्पसंख्यायतन-पद्धति के ही रूप हैं। हिंसा, यन्त्रवाद, एकत्रित पूंजी, बड़े पैमाने पर योजनाएं उनके हथियार हैं। वे करेंगे तो हिंसा; लेकिन कहते रहेंगे कि वह अहिंसा के लिए ही है। बहुसंख्या को प्रसन्न रखना जरूरी है, इसलिए हमेशा उसके हित का मंत्र पढ़ते रहेंगे। आघात-प्रत्याघात की पराकाष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जायगी। 'संसार की आम जनता हमारी व्यवस्था के बिना

कभी व्यवस्थित रह नहीं सकती'---इस कल्पना पर सारी इमारत खड़ी है। जबतक बहुसंख्या इतनी अज्ञान अथवा दुर्बल रहेगी कि उसे इस कल्पना के अधीन रहना पड़े, तबतक इन पद्धतियों का किसी-न-किसी रूप में बना रहना अनिवार्य है।

(१०) इसके विपरीत, रूस ने मानो अन्धे आवेश से बहु-संख्यायतन-पद्धति का प्रयोग शुरू किया-सा प्रतीत होता है।

बहुसंख्यायतन-पद्धति रूसी प्रयोग

लेकिन हिसा कभी भी और कहीं भी बहु-जनसमाज का हथियार नहीं हो सकती। इसलिए रूस का प्रयोग वस्तुतः शस्त्र-शास्त्र धनिक अल्पसंख्यायतन-पद्धति का प्रयोग ठहरनेवाला है। स्टैलिन की वर्तमान नीति यह अनुमान प्रमाणित करने जा रही है। जो शस्त्र से कमाया हो, उसे शस्त्र से ही सम्हालना होगा। बड़े परिमाणों में शास्त्रा-स्त्रों की तैयारी के बिना सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, यह आज साबित हो चुका है। इसलिए बहुसंख्या को शस्त्रों में संलग्न करना होगा। बहुसंख्या स्वभावतः शस्त्र-धारण में असमर्थ होती है। इसलिए उसे उस काम में निपुण अल्प-संख्या के ही अधीन होकर रहना पड़ेगा। इस सारी योजना में धन-संग्रह और रक्षण के लिए कूटनीतिज्ञता के शस्त्र की जरूरत अवश्य होगी। और इतना होने पर वह प्रयोग बहु-संख्यायतन नहीं रह सकता। जबतक बहुसंख्या को वह हितकर प्रतीत होता रहेगा तबतक भले ही चलता रहे बेचारा।

आज हमने उस प्रयोग को 'शस्त्र-शास्त्र-धनिक' नाम दिया; परंतु सांख्यों के तीन गुणों की तरह जब शास्त्र, शस्त्र और धन की एकत्र आवश्यकता होती है तब इन तीनों में से कौन-सा, कब और कितना प्रबल होगा, इसका ठिकाना नहीं है। इसलिए थोड़े में और निश्चित शब्दों में, कदाचित, उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ईमानदारी से बहुसंख्या

के हित के लिए शुरू किया हुआ, लेकिन वस्तुतः अल्पसंख्यायतन-पद्धति का ही वह एक नये प्रकार का प्रयोग है।

'नये प्रकार' से मतलब ऊपर गिनाये हुए प्रकारों के अलावा किसी नये प्रकार से नहीं है। 'गिनाये हुए प्रकारों में से ही एक, लेकिन शायद पहले कभी न किया गया हुआ'—इतना ही 'नये' से मतलब है, क्योंकि मनुष्य का इतिहास दस-पांच लाख वर्षों का होने के कारण निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि ऐसा प्रयोग पहले कभी हुआ ही नहीं होगा। मनुष्य के विचारों का चक्र परिचित रास्ते से भी अपरिचयपूर्वक नित्य-नूतन घूमता ही रहता है। किसी माता के जब लड़का होता है तो उसकी मानसिक प्रसूति इतने आनन्द और उत्साह से जारी रहती है कि मानो आजतक किसी भी माता के ऐसा बालक कभी हुआ ही न हो।

× × ×

संसार में कितनी और किस तरह की राज्यपद्धतियां वर्तमान हैं और कौन-कौन से विचार-प्रवाह मौजूद हैं, इसका यह संक्षिप्त विवरण है।

प्रश्न दूसरा

प्रश्न—आपने यह सब सिद्धान्त के तौर पर बतलाया; लेकिन वर्तमान नात्सीवाद, फासिस्टवाद और समाजसत्तावाद का, जिस रूप में वे आज पाये जाते हैं उसको निगाह में रखते हुए, प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से स्पष्टीकरण होना जरूरी है। इन वादों में से कौन-सा वाद श्रेष्ठ है ?

१

जनता जीवननिष्ठ : वाद और पद्धतियां उसकी साधनीभूत

उत्तर—(११) हमने ऊपर विचार की दृष्टि से राज्य-व्यवस्था के मुख्य चार प्रकारों की, याने एकायतन, अल्पसंख्या-यतन, बहुसंख्यायतन और सर्वा-यतन-पद्धतियों और उनके अन्तर्गत अल्प-संख्यायतन-पद्धति के अवान्तर प्रकारों को मिलाकर अठारह प्रकारों की, लम्बी-चौड़ी सूची बनाई; लेकिन फिर भी इन सब प्रकारों में समान अंश है ही। उसे ध्यान में लेने के बाद प्रचलित वादों के अथवा पद्धतियों के भेद अधिक स्पष्ट होंगे। किसी राजा की बिलकुल व्यक्तिगत सत्ता मान ली जाय तो भी उसका राज्य अक्षरशः अकेले उसीका नहीं होता। उसके एक सहायक वर्ग होता है और बहुसंख्या का सहकार भी उसे थोड़ा-बहुत मिलता है। इसीलिए उसका राज्य चलता है। इसके विपरीत, जिसे सर्वायतन-पद्धति कहा जाता है, उसमें सभी लोग प्रत्यक्ष रूप से शासनसंचालन करते हों ऐसी बात नहीं है। सबका सहकार मानकर ही प्रत्यक्ष शासन-

कार्य थोड़े लोगों के सिपुर्द किया होता है। और यहां भी प्रायः किसी व्यक्ति को अन्तिम प्रमाण के रूप में मानना ही पड़ता है। जनता कभी भी वादनिष्ठ या पद्धतिनिष्ठ नहीं होती। वह तो जीवननिष्ठ होती है। जीवन सुचारुरूप से चलता रहे तो वाद या पद्धति कोई-सी भी क्यों न हो, जनता को उसकी फिक्र नहीं होती। वाद तत्त्वज्ञानी निकालते हैं, पद्धति व्यवहारी लोग बनाते हैं और समाज सहकार करता है। तत्त्वज्ञानी और व्यवहारी क्रमशः वादनिष्ठ और पद्धतिनिष्ठ होते हैं। लेकिन वे भी आखिर अपने-अपने मत के अनुसार तो जीवननिष्ठ ही होते हैं और इसीलिए वादनिष्ठ या पद्धतिनिष्ठ होते हैं। तत्त्वज्ञानी सोचता है कि अमुक 'वाद' के बिना जीवन अच्छा बन ही नहीं सकता और इसलिए याने अपनी जीवन-निष्ठा के कारण ही, वह वादनिष्ठ होता है। व्यावहारिक मनुष्य अपने अनुभव से यह ठहराता है कि अमुक पद्धति के बिना जीवन अच्छा बन ही नहीं सकता और इसलिए याने अपनी जीवन-निष्ठा के कारण ही वह पद्धतिनिष्ठ होता है। लेकिन आग्रह और मोह की बदौलत कभी-कभी जीवन-निष्ठा किनारे रह जाती है और केवल वाद-निष्ठा तथा पद्धति-निष्ठा लोगों के अर्थात तत्त्वज्ञों, व्यावहारिक लोगों और दूसरों के भी मनों पर कुछ देर के लिए अधिकार जमा ले सकती हैं।

राज्यपद्धतियों का चतुर्विध निष्कर्ष

(१२) लेकिन किसी भी हालत में सभी वादों, पद्धतियों और उन पद्धतियों के व्यवहार के नीचे लिखे अंश समान समझने चाहिए :

(अ) **जीवन-निष्ठा** : वास्तविक अथवा कम-से-कम, दिखाऊ; अन्तिम या कम-से-कम, तात्कालिक; सार्वत्रिक अथवा कम-से-कम, स्थानीय।

(आ) **बहुसंख्या का और सबका सहकार** : स्वेच्छापूर्वक (ज्ञानपूर्वक वा मूक), अथवा बल-पूर्वक (परिपूर्ण या पर्याप्त)।

(इ) **समर्थ व्यक्तियों के हाथ में राज्य का प्रत्यक्ष संचालन :** चुने हुए, अथवा नामजद, अथवा स्वतः एकत्रित।

(ई) **अन्तिम प्रमाण एक व्यक्ति :** सबके द्वारा, अधिकांश के द्वारा या अल्पसंख्यकों के द्वारा (प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप से) निर्वाचित, अथवा स्वयंभू।

राज्य-पद्धतियों के विविध विशेषण

(१३) इतना अंश समान होने पर भी पद्धतियों का और वादों का यह झगड़ा किसलिए ? शासन-पद्धतियों में परिवर्तन और क्रांतियां क्योंकर ? पद्धतियों की तुलना की गुंजाइश क्यों ? और किन बातों के आधार पर वह की जाय ?

इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है और वह समान अंश का विवेचन करते हुए उसे जो विविध विशेषण लगाये गये हैं, उन्हीं में अन्तर्हित है।

(अ) **जीवननिष्ठा :** (१) अगर केवल स्थानीय हो तो अन्य-स्थानीय जीवन से उसका विरोध होता है और इस तरह की विरोधी जीवननिष्ठा टिक नहीं सकती; वह नई पद्धति को जन्म देकर स्वयं नष्ट हो जाती है। (२) अगर वह तात्कालिक याने अदूरदर्शी हो तो उछाले फुटबॉल की तरह उसका वेग मंद होता जायगा और उसे नवीन वेग की आवश्यकता रहेगी। (३) अगर वह भासिक याने केवल दिखाऊ हो तो जबतक आभास का जादू रहेगा तबतक वह टिकेगी।

(आ) **बहुजन-समाज का सहकार :** (१) अगर वह ज़बर्दस्ती का हो तो बहुजन-समाज तबतक जाग्रत और समर्थ नहीं होता है तबतक राज्य जैसे-तैसे चल सकेगा। (२) जबर्दस्ती का होते हुए भी अगर थोड़ा-बहुत सुखद हो तो उतने अंश में वह अधिक समय तक रह सकेगा। (३) जबरदस्ती

के शासन में यदि कुशल शासक-वर्ग अशिक्षण या कुशिक्षण की ऐसी योजना कर सका कि जिससे लोकजागृति होने न पावे तो वह और भी अधिक टिक सकेगा। (४) प्राथमिक सुख अगर न भी दिया जा सके, फिर भी अगर गौण सुख का आभास उत्पन्न किया जा सके तो संभव है कि लोग उसके थोड़े-बहुत आदी हो जायं। लेकिन इसमें शक नहीं कि हर हालत में इस पद्धति का अन्त कभी-न-कभी होना ही है। (५) सहयोग स्वेच्छापूर्वक दिया जाने पर भी अगर ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो, केवल मूक हो तो वह जनता में बुद्धिभेद होने तक ही टिकेगा।

(इ) **समर्थों का धुरीणत्व** : शासन का संचालन हमेशा समर्थ व्यक्ति ही करते रहेंगे। लेकिन (१) अगर वे चुने हुए हों तो उनका टिकना उनकी सुराज्य-शक्ति पर निर्भर रहेगा। (२) अगर नियुक्त हों तो वे तभीतक कायम रहेंगे, जबतक जनता समर्थ नहीं होती या उन व्यक्तियों की आपस में फूट नहीं होती। (३) अगर वे स्वतः इकट्ठे हुए हों तो उतने अंश में अधिक दिन टिकेंगे। लेकिन जनता के आधार के अभाव में समर्थ व्यक्तियों की एकता ज्यादा दिन नहीं ठहरती। समर्थ व्यक्तियों में अक्सर अपने सामर्थ्य के कारण पारस्परिक ईर्ष्या हो जाती है।

(ई) **प्रमाणभूत व्यक्ति** : (१) अगर स्वयंभू हो तो वह राज्यपद्धति तभीतक रहेगी, जबतक कि उस व्यक्ति का या उसके पराक्रम या प्रभाव का अन्त नहीं हो जाता। (२) अगर निर्वाचित हो तो निर्वाचन का अधिष्ठान जिस अंश में व्यापक, व्यवस्थित और खुला होगा, उतना ही कम या अधिक उसका दायित्व रहेगा।

(१४) राजनैतिक पद्धतियों का विचार करते हुए उपर्युक्त बातों के अलावा दूसरी भी एक बहुत महत्त्व की बात

महत्त्व का मुद्दा : सार्वराष्ट्रीय अविरोध अथवा भ्रातृभाव

पर ध्यान देना पड़ता है। वह यह कि राष्ट्र की अन्तर्गत व्यवस्था के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों से उसका व्यवहार कहांतक अविरोधी है। पुराने जमाने में, जबकि आवागमन के साधन इतने वेगवान नहीं थे, तब भी यह प्रश्न कम महत्त्व नहीं रखता था। आज तो सार्वराष्ट्रीय अविरोध ही नहीं, वरन् अनुकूलता और भ्रातृभाव, राष्ट्र या राष्ट्र-समूह के व्यवहार का मूल-तत्त्व माना जाना चाहिए।

राज्यपद्धति का आदर्श

(१५) इस सारी चर्चा के सार-रूप में अब हम राज्य-पद्धति की कसौटी के कुछ तत्त्व यहां देते हैं :—

(अ) सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव,
(आ) राष्ट्र के सब लोगों का ज्ञानपूर्वक, यथाशक्ति परन्तु सहजस्फूर्त और हार्दिक, सहकार,
(इ) समर्थ अल्पसंख्या और सर्वसामान्य बहुसंख्या का हितैक्य,
(ई) सबके सर्वांगीण और समान विकास की दृष्टि,
(उ) राज्य-सत्ता का व्यापकतम विभाजन,
(ऊ) अल्पतम शासन,
(ए) सुलभतम तन्त्र, (ऐ) न्यूनतम व्यय,
(ओ) कम-से-कम रखवाली और
(औ) सार्वत्रिक, अव्याहत एवं तटस्थ अथवा मुक्त ज्ञानप्रचार

२

(१६) अब हम अपने मूल प्रश्न पर आ सकते हैं। नात्सी और फासिस्ट वादों में इतना ही फर्क मालूम होता है कि

नात्सी, फासिस्ट और रूसी वादों का स्वरूप : तीनों भ्रमपूर्ण

नाजीवाद अधिक संगठित है और समाज के अधिक अंश को स्पर्श करता है। इससे अधिक फर्क इन दोनों पद्धतियों में नजर नहीं आता। वंशाभिमान दोनों में समान है। दोनों ने इंग्लैंड को अपना गुरु बनाकर उससे राज्य-विस्तार-तृष्णा पाई है। दोनों का सैनिक शक्ति पर विश्वास है। पोर्तुगाल, स्पेन, हॉलैंड, इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों ने जिस पद्धति से संसार को व्यापने का प्रयत्न किया, उसीका अनुसरण ये भी कर रहे हैं। दोनों पद्धतियों के विषय में आज का उपलब्ध साहित्य पढ़ने से उन के बारे में जो राय कायम होगी, पन्द्रह दिन के बाद निकली हुई पुस्तकें पढ़ने पर उसे बदलने की नौबत आ जायगी।

इसके विपरीत, रूस में साम्यवाद या समाजवाद के नाम से एक प्रयोग शुरू हुआ है। उसकी मूल कल्पना विश्वव्यापक की गई थी, लेकिन वह न टिक सकी और बाद को उसे राष्ट्रबद्ध स्वरूप प्राप्त हो गया है। सैनिक शक्ति में उनका उतना ही विश्वास है, जितना कि औरों का। अगर आज तैयारी में कुछ पिछड़े हुए हों, तो अब आगे बढ़ जायंगे। अपना मतलब साधने के लिए तत्त्वहीन दांव-पेंचों से किसीको भी परहेज नहीं है। व्यापार दूसरों ने पहले ही हथिया लिया और देश में जमीन भरपूर है, इसलिए रूस खेती की योजनाएं अधिक बनाता है। लेकिन यह फर्क मूलभूत नहीं है; परिस्थिति के कारण हुआ है।

रूस की क्रान्ति बीस वर्ष की अल्प अवधि में ही इतनी नीरस हो गई है कि उसका असली आकर्षक स्वरूप प्रायः लोप हो गया है। कारण यह है कि केन्द्रीकरण, यन्त्रपूजा, शस्त्रनिष्ठा और शोषण—पूंजीवाद की इन चार बातों में से तीन को कायम रखते हुए चौथी को टालने का प्रयास

साम्यवाद कर रहा है। अर्थात यह एक मोहचक्र है । यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि पहली तीन बातों के साथ चौथी, टालने पर भी, बरबस आ ही जाती है। लेकिन केन्द्रीकरण से प्राप्त क्षमता, यन्त्रपूजा की बदौलत मिला आराम और शस्त्रनिष्ठा से मिलनेवाला रक्षा का आश्वासन---इन तीनों का लालच इतना जबरदस्त है कि शोषण बन्द करने के लिए उनमें से एक का भी त्याग करने की कल्पना मोहचक्र में फंसे हुए आरामतलब चित्त को नहीं जंचती ।

नात्सीवाद और फासिस्टवाद के लिहाज से रूसी 'वाद'-उसे जो भी नाम दिया जा सके---सद्हेतुमूलक प्रतीत होता है। लेकिन तीनों एक-ही-से भ्रान्त हैं और इसलिए सबका हित तो दूर, बहुसंख्यकों का हित भी साधने में तीनों करीब एक-से असमर्थ ठहरे हैं।

इन वादों की थोड़ी और तुलना : उनके मूढग्राह

(१७) जबतक कोई पद्धति निर्माण की अवस्था में हो और प्रतिक्षण बदल रही हो तबतक उसके गुण-दोषों की तुलना या चर्चा भ्रम-जनक हो सकती है । उदाहरणार्थ, सार्वराष्ट्रीय भ्रातृ-भाव की कसौटी की दृष्टि से विचार किया जाय तो इटली या जर्मनी की वर्तमान विचारधारा में वह बिलकुल नदारद है। इसके विपरीत, रूस के साम्यवादी तत्त्वज्ञान में उसका स्थान होना चाहिए ।लेकिन साम्यवाद का एक सिद्धांत यह माना जाता है कि साम्यवाद की विचारधारा जबतक सारे संसार में नहीं फैलती, तबतक किसी भी एक देश में वह स्थायी नहीं हो सकेगी। इसके अलावा, साम्यवाद के प्रचार-साधनों में हिंसा वर्जित नहीं मानी जाती । इसलिए केवल प्रचार के आनन्द के लिए, जब शक्य हो, रूस दूसरे किसी भी राष्ट्र पर आक्रमण कर सकता है, चाहे उस राष्ट्र ने रूस का

कुछ भी न बिगाड़ा हो। जबतक इस तरह के आक्रमण का सुयोग नहीं मिलता, तबतक सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव, कम-से-कम पुस्तकों में तो, रह सकेगा। बाद में तो वह वहां भी नहीं टिक सकेगा। भक्तों की यह धारणा है कि रामचन्द्रजी के बाण से जो जो मरे, उन सबको मुक्ति मिली। साम्यवाद के भोले भक्त भी कई बार यह कहते पाये जाते हैं कि रूस का आक्रमण जिस-जिस राष्ट्र पर होगा, वह उस राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होगा। इस सारी विचारधारा का अगर खयाल किया जाय तो रूस राष्ट्रीय भ्रातृभाव की कसौटी पर अधिक खरा उतरेगा, यह कहना मुश्किल है।

इसी प्रकार, कसौटी की अन्तिम शर्त याने ज्ञानप्रचार की स्वतन्त्रता, न केवल युद्धकाल में, वरन् और समय में भी, रूस और जर्मनी में एक-सी अनुपलब्ध है। रखवाली की शर्त के विषय में भी वही बात है। सबका रक्षा-साधन हिंसा ही होने के कारण जो रखवाली पर अधिक-से-अधिक खर्च करेगा, उसीको बुद्धिमान् कहने की नौबत आ गई है। रूस की विचार-प्रणाली में ध्येयवाद की जो ताकत है, वह नात्सी और फासिस्ट विचार-प्रणाली में नहीं पाई जाती। लेकिन उसकी जगह स्वजाति और स्ववंश का अभिमान प्रेरणाप्रद होता हुआ दिखाई देता है।

रूस के ध्येयवाद में बहुजनसमाज के हित की जो दृष्टि निहित है, वह वस्तुतः सर्वोदय के प्रतिकूल नहीं है। बहुजन-समाज के हित में ही वस्तुतः दूसरे सब लोगों के हित सुरक्षित रह सकते हैं। इस हितैक्यदृष्टि के आधार पर रूस की वर्तमान क्रान्ति की अपेक्षा अधिक स्थायी क्रान्ति हो सकती थी। लेकिन वहां हितैक्यदृष्टि की अपेक्षा हितविरोध की दृष्टि ही अधिक प्रभावशाली तथा शीघ्र-फलदायी मानी गई और इसलिए उसी का अवलम्बन किया गया। फलतः कार्य शीघ्र हुआ-सा

जान पड़ा। लेंकिन बाद में उसीको सम्हालते-सम्हालते राष्ट्राभिमान की नींव पर खड़ा करना पड़ा।

जनता को समत्वयुक्त और विवेकशील दृष्टि की शिक्षा देने के बदले, बलवान् प्रतीत होनेवाली आवेशपूर्ण दृष्टि सिखाने के मोह को जल्दी-पसन्द नेता रोक नहीं सकते। रूस का बहुजन-हितवाद और जर्मनी का राष्ट्रसंगठनवाद इसके उदाहरण हो गये हैं। जर्मन नेताओं को यह मोह रहा कि वंशाभिमान जाग्रत किये बिना शायद राष्ट्रसंगठन शीघ्रता से नही होगा और रूस के नेताओं को यह कि वर्गविरोध की भूमिका सजाये बिना क्रान्ति द्रुतगति से नहीं होगी।

मैजिनी के इटली की दुरवस्था: जनता-रक्षा के नाम पर क्षत्रिय-वर्ग का नेतृत्व

(१८) जोसेफ मैजिनी की दृष्टि से इटली की परिस्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो एक बिलकुल अजीब-सा दृश्य दिखाई देता है। मैजिनी गिजो का भक्त तो है, लेकिन गिजो आत्मौपम्य के सिद्धान्त को स्वतन्त्रता की बुनियाद मानकर चलता था। मैजिनी को वह अपर्याप्त प्रतीत होता है। इसलिए वह ईश्वर के पितृत्व के आधार पर सार्वराष्ट्रीय स्वतन्त्रवाद का प्रतिपादन करता है। लेकिन उसके जीतेजी इटली की निज की राज्यसत्ता खड़ी होती है। जनता तो पराई सत्ता के नष्ट होने के आनन्द में गर्क है; परन्तु मैजिनी अपने ध्येय के कहीं-के-कहीं अदमपता हो जाने पर बिलख रहा है। अब उस राज्यसत्ता को हटाकर क्षत्रिय-वर्ग की सत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रित हो गई।

जब-जब क्षत्रियवर्ग वर्ग के नाते अग्रसर होता है तब-तब वह जनता के हित के नाम पर ऐसा करता है। यह क्षात्र-वर्ग अपनेको ईश्वर की रक्षक-शक्ति का वारिस मानता है। वंशाभिमान तो उसमें होता ही है। इसलिए शीघ्रफल के लिए

आवश्यक जोश-खरोश उसे सहज ही उपलब्ध होता है। यह क्षात्रवर्ग अगर अन्तस्थ कलह या बाह्य आक्रमण से परास्त हो जाय तो एक क्षण के लिए जनता उसपर तरस खाती है और फिर अपने नित्य व्यवहार में लग जाती है।

समाजवाद अधिक रोचक और संशोधन-क्षम

(१९) अब इन तीन वादों में से श्रेष्ठ-कनिष्ठता किसकी और कैसे ठहराई जाय, यह प्रश्न ही है। जनता जब किसी पुरानी व्यवस्था से तंग आ जाती है तब वह पुरानी व्यवस्था को तोड़कर उसकी जगह लेनेवाली चाहे जिस नई व्यवस्था को पसन्द कर लेती है। उसमें आनन्द का प्रधान विषय यही होता है कि पुरानी व्यवस्था जाती रही। पेशवा-शाही के बाद एलफिन्स्टन साहब की अमलदारी शुरू हुई और कानून से नियंत्रित राज्यसत्ता जारी हुई। मालूम होता है, इसीकी खुशी उस जमाने के मराठों को थी। लेकिन पचास साल के भीतर ही यह खुशी गायब हो गई और असन्तोष की हवा चलने लगी। यह नहीं कहा जा सकता कि एलफिन्स्टन की अमलदारी में मराठा जिस आनन्द में मशगूल था, वह आनन्द सर्वथा मिथ्या था। लेकिन आज उस तरह का आनन्द हमें पुसायेगा नहीं।

हिन्दुस्तान की आज की स्थिति में इन वादों को यहां कुछ-न-कुछ स्थान मिल ही सकता है। गरीबी तो हमारी बेमिसाल है और हमारे परम्पराप्रिय समाज को जात्यभिमान भी रुचिकर प्रतीत हो सकता है। इसलिए साम्यवाद को—जो कि गरीबों से हमदर्दी रखता है—चाहनेवाला एक, और दूसरा जाति-अभिमान का संगठन करने की इच्छा रखनेवाला, ये दोनों वर्ग इस समय भारतवर्ष में पैदा हो गये हैं। लेकिन हिन्दुस्तान की स्थिति से तुलना न करते हुए केवल तटस्थ-

वृत्ति से विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि एक विचारक को साम्यवाद जितना आकर्षक प्रतीत हो सकता है और थोड़े से संशोधन से उसमें जिस तरह सुधार हो सकता है, उतना आकर्षक या संशोधन-क्षम नात्सी या फासिस्टवाद नहीं हो सकता।

प्रश्न तीसरा

प्रश्न—अगर प्रचलित पद्धतियों को सदोष करार दिया जाय तो निर्दोष पद्धतियों का स्वरूप कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—(२०) किसी भी पद्धति-विशेष का आग्रह न रखते हुए, समय-समय पर पद्धति को बदलते रहना, यह सर्वोत्तम पद्धति समझनी चाहिए। पद्धति ऐसा कोई अबाधित तत्त्व नहीं है कि जिसके आधार पर जीवन का निर्माण किया जा सके। अक्सर किसी एक पद्धति से तंग आया हुआ मनुष्य दूसरी पद्धति की तलाश में रहता है। लेकिन जिन विशेष गुणों या दोषों के कारण लाभ या हानि होती है, उनकी तरफ मनुष्य का ध्यान नहीं जाता। बाल-विवाह से जो समाज तंग आ जाता है, वह प्रौढ़-विवाह की तरफ मुड़ता है और जो प्रौढ़-विवाह से सन्त्रस्त हो जाता है, वह बाल-विवाह पर आ सकता है। वास्तव में तारक तत्त्व संयम है। विवाह की उम्र निर्धारित कर देनेभर से ही बेड़ा पार नहीं हो सकता। सबका कारबार सब चलावें, इसकी स्थूल पद्धति समाज के विकास की अवस्था पर निर्भर रहेगी। परन्तु इन सारी पद्धतियों में कम-से-कम नीचे लिखी चार चीजें तो अनिवार्यरूप से रहेंगी ही।

निर्दोष पद्धतियों का चतुर्विध लक्षण

(१) समर्थों का सामर्थ्य जनसेवा के समर्पित हो।

(२) जनता पूरी तरह स्वावलम्बी और पारस्परिक सहयोग करनेवाली हो।

(३) नित्य के सहयोग और प्रासंगिक असहयोग या प्रतिकार का अधिष्ठान अहिंसा ही हो।

(४) सबके प्रामाणिक परिश्रम की कीमत (नैतिक और आर्थिक) समान हो।

अब उपर्युक्त बातों में से हरएक का थोड़ा विवेचन करें।

१

लोकमत समर्थ व्यक्तियों को जनता की सेवा में लगानेवाला हो

(२१) 'समर्थ' से मतलब है स्वभावतः अधिक बुद्धिशाली और अधिक शक्तिशाली व्यक्ति। यह भेद प्राणिशास्त्र का ही किया हुआ है और फिलहाल तो उसके निराकरण की कोई गुंजाइश नहीं दीखती। लेकिन साथ ही आज सम्पत्ति आदि साधनों की बदौलत समर्थ बना हुआ भी एक गिरोह है। पहले दो गिरोह स्वाभाविक हैं। यह तीसरा औपाधिक है। इन तीनों में जो त्रिविध सामर्थ्य मौजूद है, वह उन्हें जनता की सेवा के लिए ही निसर्ग और परिस्थिति द्वारा दिया गया है, इस बात का निरन्तर भान उनमें और जनता में जाग्रत रहना चाहिए। यह सामर्थ्य जनता की सेवा के अवश्य अर्पण हो, इस तरह कालानुसार प्रबन्ध करनेवाली राज्यपद्धति होनी चाहिए। बुद्धि का उपयोग है लोक-जीवन को ज्ञानमय बनाने के लिए, शक्ति का उपयोग लोकहितार्थ पराक्रम करने के लिए और सम्पत्ति का उपयोग है उचित रीति से समूचे समाज-शरीर में उत्पादन-शक्ति का प्रवाहशील और समानरूप से वितरण करने के लिए। समर्थ व्यक्ति अगर समाज को अपनी शक्तियों का इस तरह से उपयोग नहीं देंगे तो ऐसा लोकमत होना चाहिए कि राज्यप्रणाली के सिद्धान्तों के अनुसार वे अपराधी ठहराये जायं।

लोकमतानुसारी पद्धति में अनुशासन अन्तर्हित

(२२) लोकमत के होने पर, अगर जरूरत हो, तो उस सम्बन्ध में कानून भी बनाया जा सकता है। कानून का याने अनुशासन का समावेश लोकमतानुसारी अहिंसक राज्यप्रणाली में होता है। केवल दंड के भय से समाज सीधे रास्ते पर रहता है, यह विचार अनुभव से गलत साबित हो चुका है। लेकिन फिर भी वह लोकमान्य है। असल बात यह है कि समाज को सही रास्ते पर रखने के लिए लोकमत का डर या लोकमत की कद्र कह लीजिए—अधिक-से-अधिक उपयोगी हुई है और हो रही है। ऐसे कुछ थोड़े-से महान् व्यक्ति, जिन्हें नैतिक मर्यादा के पालन के लिए लोकमत की जरूरत नहीं होती, समाज में सर्वत्र और सर्वदा होते हैं। लोकमत की उपेक्षा करके अनीति की राह पर चलनेवाले कुछ भ्रान्त या अविवेकी व्यक्ति भी उसी प्रकार सब जगह होते हैं। परन्तु आम जनता या सर्व-साधारणवर्ग लोकमत के विधानों का पालन करने और लोक-मत के निषेधों को टालनेवाला होता है। यही सहज लोकमत कानून या अनुशासन का आधार होता है और उसका आदर सर्वसाधारण जनता हमेशा ही किया करती है। थोड़े-से जो भ्रान्त व्यक्ति बाकी रह जाते हैं, उनका सम्बन्ध फौज वगैरा से जोड़ने के बदले थोड़े-से जो महापुरुष होते हैं, उनके साथ कायम करना चाहिए। अर्थात् जिन्हें कानून की पर्वाह नहीं है, उन्हें उनके हवाले करके जिन्हें कानून की जरूरत नहीं है, सर्वसाधारण समाज कानून के अनुसार चले।

कृपण भी चोर के समान अनुशासनीय

(२३) आज लोकमत को चोर मान्य नहीं है। वही हाल कदर्य या कृपण का भी होना चाहिए। याने आज जिस प्रकार चोर अनुशासनीय है, उसी प्रकार सूम भी

कानून से अनुशासनीय होना चाहिए । अर्थात् लोकमत इसके अनुकूल होना चाहिए। सभ्य मां-बाप अपने बच्चों को बचपन से ही यह शिक्षा देते हैं कि बिना मांगे कोई चीज हथिया लेना भारी गुनाह है । उसी प्रकार जिसे जरूरत हो, उसे मांगने पर न देना भी शिक्षणशास्त्र नैतिक दोष माने। यह विचार नया नहीं है, लेकिन एक सामांन्य तत्त्व के रूप में अबतक उसका अमल नहीं हुआ है। उपनिषद् का राजा अश्वपति अपने राज्य की महिमा का वर्णन करते हुए

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यः।

(याने मेरे राज्य में न तो चोर है, न कंजूस) एक ही वाक्य में कहता है। अर्थात् वह दोनों को एक ही पंगत में बिठाता है और यह संकेत करता है कि कृपण चोरों के जनक हैं तथा चोर उनके उत्तराधिकारी पुत्र। इस विचारधारा को कानून में दाखिल कर देना जरा भी मुश्किल नहीं है।

सम्पत्ति के प्रयोजन

(२४) सम्पत्तिमानों की सम्पत्ति छीन लेने की बात फिजूल ही कही जाती है। वस्तुतः सम्पत्तिमान् सम्पत्ति केवल संचय के लिए नहीं रखना चाहते। उन्हें तो प्रतिष्ठा सुख, भावी जीवन का आश्वासन, सन्तान का पालन-पोषण और दानशीलता की ख्याति, इन्हीं में से कुछ की, या इन सबकी, अभिलाषा होती है। अगर कोई ऐसी युक्ति हाथ लग जाय जिसके जरिये ये सब चीजें मिलने की सुविधा हो और ऊपर से निश्चिन्त भी रहा जा सके तो उसपर किसीको एतराज न होगा। आज भी सम्पत्तिमानों की सम्पत्ति कई सहकारियों, मुनीमों और उसी तरह के दूसरे लोगों में बंटी हुई होती है। इसके सिवा उनकी सम्पत्ति के विनियोग का कोई रास्ता ही नहीं है। मुनीमों के हाथों में सम्पत्ति सौंपकर,

मुनीम धोखा तो देते हैं, फिर भी ज्यादा धोखा नहीं देते, इस तरह की चिन्ता और सन्तोष में उन्हें जीवन बिताना पड़ता है। इसके बदले राज्यपद्धति समर्थों को यह दर्शन करा दे कि यह पैसा समाज के कामों में लग रहा है, चिन्ता की जगह उन्हें लोकोपयोगी चिन्तन का लाभ मिल रहा है और इसके अलावा तथा इसके परिवर्तन में, प्रतिष्ठादि सारी चीजें पहले से कम नहीं, बल्कि बहुत अधिक मात्रा में और वास्तविक रूप में मिल रही हैं।

उदाहरण : पुराना और आज का अध्यापक-वर्ग

(२५) पुराने जमाने में विद्वान् अध्यापक निष्कांचन रहता था। इसके यह माने नहीं हैं कि उसका अन्तर्जीवन तो कहना ही क्या, लेकिन उसका बाह्य जीवन भी निरानन्द होता था। वह निष्कांचन होता था, इसका इतना ही अर्थ है कि वह कांचन की चिन्ता से मुक्त होता था। उसका शिष्यवर्ग उसकी आवश्यक सेवा कुछ कम नहीं करता था। कभी-कभी सम्राट् पर भी वह हुकूमत चलाता था। वह अपनी शिक्षा-प्रणाली पर किसीका अंकुश नहीं स्वीकारता था। दीर्घ आयु का उपभोग करता था। इस तरह का अध्यापकवर्ग वास्तव में कभी था या नहीं, यह विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन अगर इस तरह का वर्ग मौजूद हो तो वह किसी कदर कम प्रतिष्ठित या कम सुखी अथवा कम वैभवशाली होगा, ऐसी बात नहीं है। आज का अध्यापक पुस्तकों का अध्यापक होता है, न कि शिष्यों का। याने उसके जीवन में शिष्यों को और शिष्यों के जीवन में उसको स्थान नहीं होता। इस पारस्परिक प्रेम के बदले वह अधिक पैसे ले लेता है, जो बीमारी वगैरा के बहाने डाक्टर-हकीम आदि उससे ऐंठ लेते हैं। फलतः उसे कोई लाभ नहीं होता और वह आम जनता के

लिए नाहक मंहगा साबित होकर उसकी सेवा से वंचित रह जाता है। राज्यपद्धति की याने लोकमत की रचना ही ऐसी होनी चाहिए कि हरएक व्यक्ति यह सहज ही महसूस करने लगे कि लोगों का विरोध सहकर इस प्रकार सम्पत्ति का संचय करने में हित नही है।

सम्पत्ति देने से दुगुनी होती है

(२६) लोगों में यह कहावत रूढ़ है कि विद्या देने से दुगुनी होती है। इस विषय मे सम्पत्ति और विद्या के स्वभाव में विरोध माना जाता है। लेकिन वह वास्तविक नहीं है। संपत्ति भी देने से दुगुनी हुआ करती है। अर्थशास्त्र में इसी को जनता की क्रयशक्ति का बढ़ना कहते हैं। साहूकार कर्जदार को भरपूर धन देता है, उसमें वह अपनी सम्पत्ति की वृद्धि देखता है। उससे भी अधिक वृद्धि सम्पत्ति के विभाजन से होती है, यह बात समझना बिलकुल मुश्किल नहीं है। परन्तु तदनुकूल समाज-रचना करनी होती है। इस तरह की समाज-रचना आदर्श राज्यपद्धति में अन्त-र्हित है। समाज व्यक्ति का बैंक है। व्यक्ति का पैसा किसी भी बैंक में जितना सुरक्षित रह सकता है, उससे कहीं अधिक सुरक्षित समाज-रूपी बैंक में रहेगा।

देने में ही मानव का सन्तोष, लेकिन हक मालिकाना की कल्पना बाधा देती है

(२७) असमर्थों की सेवा करने में ही समर्थों की शक्ति की शोभा है। मानवीय सन्तोष भी उसीमें है। चूंकि मनुष्य समाजप्रिय है, उसे अकेले उपभोग करने में, दूसरों को अपने भोग में भागीदार बनाये बिना, कभी सन्तोष नहीं होता। फिर भी आज धनवान् अपने आस-पास अधभूखे लोगों को जानते और देखते हुए भी अपने कांजीहौस में आनन्द का आभास अनुभव करते पाये जाते हैं सही। मनुष्य

स्वभाव के प्रतिकूल यह प्रवृत्ति कैसे जीवित रह सकती है, इसका जवाब यह नहीं है कि सिर्फ ये धनवान् लोग आदमियों से बाहर हैं। समाज में जो यह अर्धसत्य और अर्धमिथ्या भावना रूढ़ है कि हर व्यक्ति अपनी कमाई का जिम्मेदार और हकदार है, उसी भावना का यह परिणाम है। सबको यथाशक्ति कमाई अवश्य करनी चाहिए। जो शक्ति होते हुए भी कमाई नहीं करता, वह हकदार नहीं हो सकता। लेकिन यह पूर्ण सत्य है कि यथाशक्ति कमाई करनेवाला कोई भी व्यक्ति सम्मिलित कमाई का समान हकदार है। अगर मनुष्यों की शक्तियों में फर्क न होता तो उनकी कमाई की विषमता, उनकी सचाई की न्यूनाधिकता का द्योतक होती और उस हालत में यह कहना यथार्थ होता कि हरएक अपनी कमाई का समानरूप से जिम्मेदार और हकदार है। लेकिन जबकि शक्ति-वैषम्य प्रत्यक्ष है, व्यक्तिगत जिम्मेदारी के तत्त्व का हिसाब त्रैराशिक की रीति से लगाना गलत गणित करना है।

कुटुम्बगत आर्थिक व्यवस्था समाज पर लागू करना राज्य व्यवस्था का कार्य अन्धपंगुन्याय से

(२८) परिवार में जो आर्थिक व्यवस्था थोड़े-बहुत अंश में सर्वत्र पाई जाती है, उसे सारे समाज पर लागू करने के लिए ही—जो कुटुम्ब की शक्ति से परे है—राज्यव्यवस्था है। अगर राज्य-व्यवस्था यह कार्य न करे तो उसकी दरअसल जरूरत नहीं रह जाती। इस कार्य को करने के बजाय राज्य-व्यवस्था अगर वैषम्य का ही निर्माण करती हो तो उसे नष्ट करके अराजकता मंजूर करना हमारा धर्म होगा। अपनी चाहे जैसी कुराज्य-व्यवस्था को भी लोगों के गले उतारने के लिए राज्य-व्यवस्थापकों ने अराजकता का बहुत बड़ा हौवा चारों तरफ फैला रक्खा है।

समर्थों को हम समर्थ मानते हैं, लेकिन असमर्थ मानी गई जनता की सहायता के बिना उनका काम किसी हालत में नहीं चल सकता। इस अर्थ में वे असमर्थ ही साबित होते हैं। इसके विपरीत, जिन्हें हम असमर्थ करते हैं, उनमें भी उनका अपना विशेष सामर्थ्य होता ही है। उसके बिना राज्य-सत्ता भी निभ नहीं सकती। भावार्थ यह कि दोनों एक-दूसरे की मदद के बिना असमर्थ और एक-दूसरे की मदद से समर्थ सिद्ध होते हैं। सांख्य-शास्त्रकार जिसे अन्ध-पंगु-न्याय कहते हैं, उस तरह का यह मामला है जिस राज्य-व्यवस्था में समर्थों को इतना समझ सकने की भी अक्ल हासिल न हो कि इन दोनों के मिलन से पारस्परिक हित है, वह राज्य-व्यवस्था दरअसल राज्य-व्यवस्था ही नहीं है, बल्कि अराजकता से भी बढ़कर अराजकता है। थोड़े में भावार्थ यह है कि राज्य-व्यवस्था का अधिकार समर्थों के सुपुर्द तो करना चाहिए, लेकिन वह केवल जनता की सेवा का ही हो।

गांव स्वयम्पूर्ण होने चाहिए; उसके लिए ग्रामोद्योग ही समर्थ

(२९) इसके विपरीत, इसकी सिद्धि के लिए, याने समर्थों के हाथ में सेवा के अतिरिक्त अन्य सत्ता न जाने देने के लिए, यह अनिवार्य है कि जनता निरी असहाय और दुर्बल न रहे। इसलिए वह इतनी स्वावलम्बी होनी चाहिए कि उसे अपने बल का, याने अपने स्वतन्त्र बल का, भान रहे। अर्थात् उसके हाथ में स्वायत्त उद्योग होने चाहिए। बहुजन-समाज मिलों के मजदूरों की तरह महज परायत्त उद्योगों में संलग्न हरगिज नहीं रहना चाहिए। हरएक गांव आर्थिक दृष्टि से बहुत अंश में एक स्वयंपूर्ण इकाई बन जाना चाहिए। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि समर्थ अपनी इच्छा से जनता के साथ सहयोग करें और जनता स्वतन्त्रतापूर्वक समर्थों को

सहयोग दे। यह तभी हो सकता है जबकि जनता अपने पैरों पर खड़ी हो। और कोई मार्ग नहीं। हम जिन्हें जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं कहते हैं, वे सब और जिन्हें हम गौण आवश्यकताएं कहते हैं, उनमें से भी बहुतेरी जिस गांव के लोगों की उसी गांव में पूरी होनी चाहिए। इसके सिवा जो गौण और गौणतर आवश्यकताएं बाकी रह जाती हैं, उनकी पूर्त्ति राज्य-सत्ता को समर्थों द्वारा करानी चाहिए।

किसान के खेत की पैदावार से जो पक्का माल बन सके, वह जहांतक हो सके, उसीके घर में और शेष गांव में बनना चाहिए। यह कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान का किसान आज खेत में कच्चा माल पैदा करने के अलावा और कुछ नहीं करता। वह तिल बेच देगा और अपनी जरूरत के लिए तेल भी मोल लेगा—तेल के बारे में दूसरों की मांग पूरी करना तो किनारे रहा। कपास बोयेगा और अपने लिए सिर्फ कपड़ा ही नहीं, बल्कि बोने के लिए और गाय-बैलों की खिलाई के लिए बिनौले भी मोल लेगा। अपनी हरएक आवश्यकता पूरी करने के लिए उसे गल्ला बेचना होगा। इस बिक्री के सौदे में उसे घाटा होगा। गल्ले के बदले जो पैसा मिलेगा, उससे वह जरूरी चीजें खरीदेगा। यह खरीद का सौदा भी घाटे का ही होगा। जनता की इतनी पराधीन अवस्था न केवल जनता के ही लिए, वरन् किसी भी राज्यव्यवस्था के लिए और समर्थ माने गये अल्पसंख्य लोगों के लिए भी, हितकर नहीं है। इसलिए आदर्श समाज-व्यवस्था का यह सहज स्वरूप होगा कि खेती के पूरक ग्रामोद्योगों का जाल सारे राष्ट्र में फैला हो और उनके संरक्षण तथा स्थैर्य का प्रबन्ध राज्यव्यवस्था करे। सम्पत्ति का विभाजन वृष्टि की तरह बूंद-बूंद घर-घर में करने के लिए, बहुजन-समाज या जनता को स्वावलम्बी बनाने के लिए, न केवल समर्थों से सेवा लेने के लिए ही, अपितु स्वशक्ति से समर्थों की सेवा करने के लिए भी और

जनता के परस्पर सहयोग को दृढ़ करने के लिए भी ग्रामोद्योगों के समान दूसरी कोई सहज, सुलभ और समर्थ योजना नहीं है।

(३०) पहले सम्पत्ति एक जगह इकट्ठा करना और बाद में उसे बराबर बांट देना, इस तरह की दूसरी एक योजना साम्यवादी पेश करते हैं। लेकिन इसमें तिहरा खतरा है। एक तो यह कि उत्पत्ति के द्वारा सहज ही सम्पत्ति का समान बंटवारा करने की इकहरी योजना की अपेक्षा पहले सम्पत्ति एक जगह इकट्ठा करके फिर उसका समान विभाजन करने की दोहरी प्रक्रिया आर्थिक दृष्टि से ज्यादा महंगी पड़ेगी। यह एक खतरा। इस एकत्र सम्पत्ति की रक्षा के लिए अलग तजवीज करनी होगी और तिसपर भी वह विदेशी आक्रमण का शिकार आसानी से हो सकेगी। यह दूसरा खतरा। इसके अलावा, उसकी बदौलत समाजरचना इतनी व्यामिश्र अथवा जटिल अथवा अन्योन्यावलम्बी हो जायगी कि सारा-का-सारा यन्त्र किसी दिन अतिघर्षण के कारण एकदम बैठ जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं रहेगा। यह तीसरा खतरा।

साम्यवादियों की योजना खतरे की

(३१) अन्योन्यावलम्बन है तो बहुत अच्छी चीज; लेकिन वह स्वसमर्थ अथवा स्वावलम्बी गिरोहों के बीच होना चाहिए। परावलम्बी गिरोहों का अन्योन्यावलम्बन उसी ढंग का होता है, जैसा कि गाड़ी में जोते हुए दो दुर्बल बैलों का अपना-अपना बोझ एक-दूसरे पर ढकेलकर गाड़ी खींचने की कोशिश करना। तिपाई तीन पैरों पर खड़ी होती है। इन तीनों पैरों में पारस्परिक सहयोग होता है। लेकिन तीनों पैर अपने-अपने बल खड़े होते हैं। यह सीधी-सादी यंत्र-रचना है। कोई एक पैर टूट जाय तो सिर्फ उसी एक को दुरुस्त करना पड़ेगा। लेकिन जब एक पहिये

अन्योन्यावलम्बन सरल चाहिए, व्यामिश्र नहीं

के भीतर दूसरा और दूसरे के भीतर तीसरा, इस तरह पहियों के सिलसिले का कोई यन्त्र बनता है तब वह व्यामिश्र कहलाता है। उसमें एक पहिया टूटते ही वह दूसरे को धक्का लगाकर सारे यन्त्र को ही रोक देगा और उसकी मरम्मत सादे यन्त्र की अपेक्षा बहुत ही मुश्किल होगी। इसके अलावा, यन्त्र चालू रहते समय भी व्यामिश्र यन्त्र में घर्षण-स्थान कई होंगे और स्नेहन-कार्य भी बहुत लम्बा होगा।

स्वयंपूर्ण राज्यसंस्था और मानव्य की विशाल कल्पना

(३२) सम्पत्ति इकट्ठा करके बांटने की सारी योजनाएं राज्यव्यवस्था पर बहुत दबाव डालती हैं और आखिर को वे हिंसामिश्र हो जाती हैं। इसलिए, याने अगर हम हिंसा का आश्रय, राज्यसत्ता पर पड़नेवाला तनाव और समाज-रचना की क्लिष्टता टालना चाहें तो हरएक देहाती किसान को अपना बादशाह होना चाहिए और ग्रामीणों का सहयोग बटी हुई रस्सी की नाई पक्का होना चाहिए। तब वह किसान और उसका गांव मिलाकर एक सहज और करीब-करीब स्वयम्पूर्ण राज्यसंस्था हो जायगी।

जो इस प्रकार स्वायत्त ग्रामों का संगठन करती है, वह है निमित्तमात्र प्रान्तीय सत्ता। ऐसे प्रांतों का जो संगठन करती है वह है निमित्तमात्र राष्ट्रीय सत्ता। ऐसे स्वायत्त राष्ट्रों के परस्पर सहकार्य का जो संगठन करती है, वह है निमित्तमात्र अखिल मानव-सत्ता। इस अखिल मानव-सत्ता में—जिसे हमने निमित्तमात्र कहा है—संसार के रागद्वेष-रहित प्राज्ञ और प्रातिनिधिक व्यक्तियों की परिषद् होगी। इस परिषद् के पास दंड-शक्ति शून्य और नैतिक नियमन-शक्ति पूरी-पूरी होगी। मानवों को मानव्य की ऐसी विशाल कल्पना रचनी है। राजनीतिज्ञों की यह ठीक राय है कि केन्द्रीय सत्ता अगर प्रचंड शक्तिशाली

न हो तो काम नहीं चलेगा; लेकिन प्रचण्ड शक्ति का भंडार प्रज्ञा और नीतिमत्ता है, न कि चेतनहीन शस्त्रास्त्र या जरजवाहिरात। स्पष्ट है कि जबतक जनता स्वावलम्बी और सहकारी नहीं होगी, तबतक इस तरह की मानव्य-रचना नहीं बन सकती।

३

राज्यव्यवस्था हमेशा मानवसापेक्ष ही रहेगी

(३३) राज्यव्यवस्था कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, प्रत्यक्ष व्यवहार में उसकी उत्तमता किसी-न-किसी अंश में उन व्यक्तियों की योग्यता और सज्जनता या असज्जनता पर आधार रखती ही है, जिन्हें समाज की तरफ से शासनतंत्र के सूत्र सौंपे गये हों। साधारणतः अच्छे आदमी ही अचूक चुने जायं, ऐसी योजना करना उत्तम राज्यपद्धति का एक अंग और लक्षण है। लेकिन उसके बावजूद भी व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत भला या बुरा परिणाम राज्य-व्यवस्था पर अवश्य होगा। राज्यव्यवस्था-शास्त्र, या थोड़े में राज्यशास्त्र, शुद्ध गणितशास्त्र का तो कहना ही क्या, व्यावहारिक गणितशास्त्र के समान भी नियमित शास्त्र नहीं है। शुद्ध गणितशास्त्र विचारसृष्टि में विचरण करता है, व्यावहारिक गणितशास्त्र भौतिकसृष्टि में। लेकिन राज्यशास्त्र का विस्तार उस मानवसृष्टि में है, जो विचार सृष्टि और भौतिकसृष्टि दोनों से जुदा है। इसलिए उसे मानवनिरपेक्ष केवल यान्त्रिक रूप देना सम्भव नहीं है।

इसलिए सत्याग्रह का संरक्षण जरूरी

(३४) सब मनुष्यों के समग्र, सर्वांगीण और अविरुद्ध हित की रक्षा करना राज्यशास्त्र की प्रतिज्ञा है। उसके लिए—(१) व्यापकतम मतदान, (२) बहुमत के अनुसार शासन, (३) अल्पमत का अधिक-से-अधिक सन्तोष और पूर्ण संरक्षण, (४) मत-प्रचार की स्वतन्त्रता, (५) निष्पक्ष, सस्ता और

सुलभ न्यायदान, (६) सार्वजनिक शिक्षण का प्रबन्ध, (७) सुधारक दण्डनीति––आदि सुराज्यव्यवस्था के जो बाह्य अंग माने गये हैं, उपयुक्त हैं। लेकिन राज्यशास्त्र की मानव-सापेक्षता के कारण अनेक दोषों, वादों और टण्टों का निर्माण होना सम्भव है। इनके इलाज के रूप में जनता को सहकार, असहकार और प्रतिकार के अवसरों का ज्ञान होना चाहिए। यथाअवसर इन तीनों का प्रयोग करने की शक्ति जनता में होनी चाहिए और इस सम्बन्ध की अहिंसक पद्धति जनता में रमी हुई होनी चाहिए।

वास्तविक सहकार और असहकार की पात्रता

(३५) सहकार जीवन का नित्य तत्त्व है। लेकिन जब वह स्वेच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक किया हो, तभी उपयोगी, तभी अहिंसक, बल्कि, तभी वह यथार्थ सहकार हो सकता है। अन्यथा, लाचारी से और अज्ञानवश किया सहकार उत्तम राज्य व्यवस्था के लिए उपयोगी नहीं है। उसकी शक्ल देखने में सहकार के जैसी भले ही लगती हो; लेकिन उसमें मिथ्यात्व होने के कारण वह ज्यादा दिन टिक नहीं सकेगा तथा पहले तो गुप्त हिंसा में और बाद में प्रकट हिंसा में अवश्य परिणत हो जायगा। इसलिए जनता के प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतीति होनी चाहिए कि कानून हम ही ने बहुमत से बनाया है, हम उसे बदल भी सकते हैं, जबतक हम उसे बदलते नहीं हैं, तबतक, चाहे वह हमें व्यक्तिशः पसन्द न हो तो भी, यदि वह नीति-नियमों के खिलाफ न हो तो, हम स्वेच्छा से, आनन्दपूर्वक और खुले दिल से उसका पालन करते रहेंगे। जिनका मतविरोध नहीं है, उनके सहकार का कोई सवाल नहीं। लेकिन जिनका मतविरोध है, उनकी वृत्ति सहकार करते वक्त अगर ऊपर लिखे मुताबिक हो तो वह सहकार अहिंसक कहलायगा। जो व्यक्ति इस तरह का सहकार नित्य करता है, उसीको यथाप्रसंग आवश्यक असहकार और प्रतिकार

करने का अधिकार होता है। ऐसे ही व्यक्ति अहिंसक प्रतिकार करने की सामर्थ्य रखते हैं और उन्हीका वह कर्त्तव्य भी होता है।

जनता को असहकार और प्रतिकार की तालीम देना जरूरी

(३६) जिस प्रकार जनता के शिक्षण या विचारजागृति का एक पहलू यह है कि जहांतक मुमकिन हो, लोग सहकार ही करें और उसे स्वेच्छा से तथा समझ-बूझकर करें; उसी प्रकार जनता के शिक्षण अथवा विचार-जागृति का दूसरा पहलू यह है कि वह असहकार और प्रतिकार के प्रसंग को पहचानें और वैसे प्रसंग आने पर सविनय असहकार और प्रतिकार करें।

असहकार और प्रतिकार एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। पहली की अपेक्षा दूसरी अधिक उग्र है। जहां असहकार से ही काम चल सके, वहां प्रतिकार करना नहीं होता। असह-कार में हम अपना सहकार का हाथ हटा लेते हैं और प्रतिपक्षी को परिस्थिति में सुधार करने का मौका देते हैं। इतने से जब काम होता नहीं जान पड़ता तब राज्य का कानून (१) विनय-पूर्वक याने विशिष्ट मर्यादा में रहकर, (२) व्यवस्थित-रूप से याने कहीं भी अनुशासनभंग न होने देते हुए, (३) प्रकट रूप से याने कुछ भी गुप्त न रखते हुए तथा छल-प्रपंच के बिना और (४) दृढ़ता से याने वादविषयक प्रश्न के बारे में कम-से-कम मांग पेश करके और जबतक वह पूरी न हो तबतक हार न मानते हुए, भंग करना होता है। इस तरह के कानूनभंग के लिए जो सजा हो, उसे खुशी से और बगैर द्वेष-भाव के भुगत लेना होता है। इस तरह की शिक्षा जनता के जीवन में रमी हुई होनी चाहिए और इसके लिए शिक्षण तथा राष्ट्रीय नीतिशास्त्र में उसका नित्य स्थान होना चाहिए।

(३७) सुराज्यव्यवस्था में असहकार और प्रतिकार प्रासंगिक और नैमित्तिक होते हुए भी समाज-जीवन में उनका

समाज-जीवन में असहकार का स्थान नित्य

नित्य स्थान है। क्योंकि उनकी जरूरत केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं होती, अपितु समाजकारण, कुटुम्बकारण और व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में भी उनके प्रयोग की थोड़ी-बहुत आवश्यकता हमेशा रहेगी। प्रतिकार न करते हुए, निष्क्रिय होकर अन्याय सह लेना, या फिर सक्रियता के आवेश में होश-हवास भुलाकर——या सम्भालकर भी——हिंसात्मक प्रतिकार करना, ये दोनों मार्ग टालकर सविनय असहकार और प्रतिकार का बीचवाला यही एक राजमार्ग है। राज्यव्यवस्था कैसी भी क्यों न हो, जरूरत होने पर, इस मार्ग का अवलम्बन करने की वृत्ति और शक्ति समाज के नीतिशास्त्र में जाग्रत होनी चाहिए।

असहकार की तालीम की दिशा: यमनियम-विवेक

(३८) इसके लिए मोटे-मोटे नियमों के अपवाद भी बचपन से बालकों को सिखाये जाने चाहिए। मां-बाप की आज्ञा नम्रतापूर्वक माननी चाहिए, इस शिक्षा के साथ मां-बापों को ही अपने बालकों को यह भी शिक्षा देनी चाहिए कि अगर वह आज्ञा विवेक-बुद्धि को जंचने के लायक न हो तो उसे सविनय भंग करें। यह एक उदाहरण दिया। दूसरे भी स्थूल नियमों के विषय में लोकमत इसी तरह का होना चाहिए।

"यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः"

(समझदार आदमी यमों का यानी सत्य-अहिंसादि शाश्वत धर्मों का नित्य पालन करें। नियमों के नित्य पालन की अपेक्षा नहीं की जाती।) मनु के इस वचन का यही अर्थ है। नियम, चाहे वे कौटुम्बिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय, किसी प्रकार के क्यों न हों, जबतक वे सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं होते तबतक उनका

पालन अवश्य करना चाहिए। जहां उनका सिद्धान्तों से विरोध उपस्थित हो, वहां सविनय त्याग करना चाहिए।

सुव्यवस्था में नियम साधारणतः नित्य सिद्धान्तों के अविरोधी स्वरूप में ही होते हैं। लेकिन गतिमान् यन्त्र का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें थोड़ा-बहुत घर्षण पैदा होने की सम्भावना सदा रहती है। एक बार आदर्श राज्यव्यवस्था कायम कर दी, अब वह व्यवस्था ही जनता को संभाल लेगी और सुख पहुंचाती रहेगी, जनता खुशी से नींद लेती रहे, या आंख मीचकर चलती रहे——ऐसी बात हो नहीं सकती। और थोड़ी देर के लिए ऐसी सम्भावना मान भी ली जाय तो उसमें मनुष्य का विकास नहीं होगा। और इसीलिए ईश्वर-कृपा से ऐसी बात सध नहीं सकेगी।

सारांश, सहकार, असहकार और प्रतिकार की मर्यादाएं निगाह में रखकर उनका अहिंसापूर्वक यथाप्रसंग प्रयोग कर सकने लायक जनता का जाग्रत होना या रक्खा जाना, उत्तम राज्य-व्यवस्था का अंग ही समझना चाहिए।

अहिंसा इतिहाससिद्ध : हिन्दुस्तान का उदाहरण

(३९) हिन्दुस्तान जैसे अनेक जमातों के, अनेक धर्मों के, अनेक भाषाओं के, विशाल जनसंख्या और विशाल क्षेत्रफल के किसी देश को सामने रखकर उसकी दृष्टि से किसी प्रश्न का समाधान करना मानों लगभग सारी दुनिया का सवाल हल करने के समान ही है। ऐसा मानना चाहिए कि जिस समय आवागमन के वर्तमान साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय जिन्होंने इतने बड़े देश को एक देश माना, उन्होंने उसके पहले अनेक तरह के टण्टों का अनुभव करके और उसमें से संगठन के प्रधान सिद्धान्त का पाठ सीखकर ही, इसे एक देश माना होगा। इतना बड़ा राष्ट्र अहिंसा के बिना एकत्र टिक नहीं सकता, यह रहस्य उनपर प्रकट हुआ और उसे दृष्टि में रखकर ही हिन्दुस्तान के

नीतिशास्त्र में उन्होंने अहिंसा को राजनैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र में तत्त्वतः सर्वोच्च स्थान दिया।

इसीके फलस्वरूप हिन्दुस्तान की आम जनता ने शस्त्रास्त्र में विश्वास कभी का छोड़ दिया था। यहां के निवासियों की यह धारणा बन गई थी कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, वह 'मानवों का महासागर' है और उसी तरह उसे सबके लिए खुला रखना है। लेकिन, अहिंसा की इतनी सारी नीति दृष्टि के सामने रखते हुए भी, मानना पड़ेगा कि जहां राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का व्यापक प्रयोग किया गया हो, ऐसे उदाहरण इने-गिने ही हैं। हिन्दुस्तान में रहने वाली जमातों के इतिहास से ज्ञात होगा कि सामाजिक, कौटुम्बिक और वैयक्तिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान ने यह प्रयोग बहुत बड़े अंश में किया है। जान पड़ता है कि सामाजिक अहिंसा के इस प्रयोग के कारण उसने उन सब जातियों को, जो बाहर से हिन्दुस्तान में आई, आत्मसात् कर लिया।

जन, सज्जन और महाजन तीनों का मिलाप अहिंसा में हो

(४०) लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में यह प्रयोग क्यों नहीं हुआ? खोजने पर इसका कारण मुख्यतः यही मालूम होता है कि हिन्दुस्तान में स्वयं राजनैतिक क्षेत्र का ही स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं था। आज तो जीवन के हरएक अंग-प्रत्यंग को राज्य-व्यवस्था स्पर्श करती है। इसलिए सज्जन, महाजन और जनता—याने कोई भी—उसके प्रति उदासीन नहीं रह सकता।

जनता अगर स्वशक्ति से ऐसा व्यापक राजकारण उठावे तो वह अहिंसा के प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि हिंसा जनता की शक्ति नहीं है। यदि सज्जनों को ऐसे व्यापक राज-कारण में शामिल होना हो तो उन्हें अहिंसा के बिना चारा

ही नहीं, क्योंकि हिंसा सज्जनों की वृत्ति नहीं है। और महाजनों को ऐसे व्यापक राजकारण में शामिल होना हो (और ऐसा आभास होता है कि महाजनों के लिए यह बात नई नहीं है। लेकिन वास्तव में नई ही है, क्योंकि जिस राजकारण में वे आज तक शरीक होते थे, वह जीवनव्यापी कभी था ही नही।) तो उनके लिए अहिंसा के आश्रय के सिवा छुटकारा नही है, क्योंकि हिंसा की शक्ति और वृत्ति उनके लिए सुसाध्य भले ही हो, लेकिन जीवनव्यापी राजकारण में हिंसा की गुंजाइश नहीं हो सकती। इसलिए जन, सज्जन और महाजन इन तीनों को संहत करनेवाली राजनीति के लिए अहिंसा ही एकमात्र सहारा है।

वही दुर्जनों के लिए हमेशा का दबदबा

(४१) इस संरक्षक हथियार के बरतने का ज्ञान सज्जनों को स्वभावतः होना चाहिए और उन्हे वह ज्ञान जनता को करा देना चाहिए। इस विषय में राज्य-व्यवस्था उन्हें स्वतंत्रता दे। अगर राज्यव्यवस्था से वह आजादी उन्हें मिलना सम्भव न हो तो सज्जनों को चाहिए कि वे महाजनों को उसका महत्त्व समझाकर और आवश्यकता होने पर सत्याग्रह करके उसे प्राप्त करें। यह सब अच्छी राज्य-व्यवस्था के अंगभूत ही हैं।

महाजनों के लिए हिंसा की शक्ति और वृत्ति निबाहना जितना अनुकूल है, उतना अहिंसा की शक्ति और वृत्ति निबाहना न हो, ऐसी बात तो है ही नहीं। लेकिन जब जन दुर्बल हो जाते हैं, सज्जन उदासीन हो जाते हैं और दुर्जनों के प्रतिकार की सारी जिम्मेदारी महाजनों पर ही आ पड़ती है तब हिंसा का सामना हिंसा से करने के अतिरिक्त उन्हें और कुछ नहीं सूझ सकता। लेकिन जब जन, सज्जन और महाजन, ये तीनों संहत हो जाते हैं—और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यापक राजकारण में उनकी संहति अनिवार्य है—तब उनके

लिए दुर्जनों का, चाहे फिर वे दुर्जन कितने ही संगठित क्यों न हों, अहिंसा से मुकाबिला करना असम्भव नहीं है। बल्कि वही वाञ्छनीय है। कारण, उसके द्वारा दुर्जनों की जड़ का ही, याने उनकी दुर्जनता का ही निर्मूलन करने का मौका रहता है।

जन, सज्जन और महाजनों का अहिंसा की बुनियाद पर संहत होना ही दुर्जनों के लिए नित्य की धाक है। जैसा कि ऊपर संकेत किया ही गया है, इन तीनों की संहति अहिसा के बगैर सम्भव भी नहीं है। इन तीनों का संहत होकर दुर्जनों के लिए हमेशा दबदबा कायम करना ही उत्तम राज्य-व्यवस्था का प्रधान लक्षण है। इसके मुकाबिले में दूसरे सभी लक्षण गौण माने जाने चाहिए। उन सबके होते हुए भी अगर यह एक लक्षण न रहा तो वह राज्यव्यवस्था एक सर्वांग-सुन्दर परन्तु चैतन्य-विहीन चित्र के समान होगी।

४

पारिश्रमिक मूल्यों की मीमांसा

(४२) आदर्श राज्यपद्धति में परिश्रम के मूल्यमापन का तरीका आज की तरह केवल यान्त्रिक और गैर-जिम्मेवाराना नहीं रह सकता। कम या अधिक शक्तिमान् और बुद्धिमान्, कार्यक्षम और अक्षम आदि सभी के संगोपन तथा संरक्षण का दायित्व आदर्श राज्यपद्धति उठायगी। सभी एक-सा परिश्रम नहीं कर सकते। इसके अलावा, परिश्रम में शारीरिक और बौद्धिक का भेद भी अवश्य रहेगा। फिर, शारीरिक परिश्रम में भी साधारण और कुशल का भेद रहेगा। लेकिन इतने भेदों के होते हुए भी, जो भी कोई बगैर जी चुराये, सचाई के साथ, अपनी शक्ति के अनुसार किसी भी तरह का लोकोपयोगी परिश्रम करे, उसे समान अधिकार से जीवननिर्वाह के लिए पात्र मानना चाहिए।

(४३) दरअसल तो शारीरिक या मानसिक सेवा की 'आर्थिक कीमत'—यह भाषा ही गलत है। कारण, सेवा नैतिक कोटि की वस्तु है और इसलिए उसकी कीमत नैतिक भाषा में ही आंकी जा सकती है। बीमारी की हालत में एक सेवक बीमार की जो चिन्ता करता है, रात को जागता है, या सेवा-शुश्रूषा करता है, उसका मूल्य अर्थशास्त्र में कैसे बैठाया जा सकता है? न्यायाधीश जो निष्पक्ष निर्णय देता है, उसकी कीमत रुपये-पैसों में कैसे लगाई जाय? डूबते हुए आदमी को बचाने की, या किसीको धधकती हुई आग में से बाहर निकालने की, कीमत त्रैराशिक में किस तरह बैठ सकती है? ये भिन्न-भिन्न उदाहरण इसलिए दिये कि इनमें से कुछ बौद्धिक, कुछ शारीरिक और कुछ मिश्र स्वरूप के हैं। लेकिन हैं तीनों अनन्त मूल्यवान् अर्थात् अमूल्य। इसलिए सेवा या परिश्रम के मुआवजे की भाषा को छोड़कर हरएक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति लगाकर भक्तिपूर्वक समाज की सेवा करे और समाज व्यक्ति के जीवन-निर्वाह का अपना कर्त्तव्य अदा करे, यही दृष्टि उपयुक्त है।

सेवा की 'आर्थिक कीमत' यह भाषा ही गलत

(४४) जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त स्वीकारने पर मजदूरी-मजदूरी में आज जो आत्यन्तिक विषमता पाई जाती है, उसका सहज ही उच्छेद हो जायगा। कुटुम्ब में तो हम कभी-कभी ऐसा देखते हैं कि छोटे बच्चों का खर्च, कमानेवाले व्यक्तियों से भी अधिक हो जाता है। इन बच्चों ने तो कोई भी सेवा की ही नहीं होती। लेकिन उनके द्वारा सेवा भविष्य में होनेवाली होती है। फिर भी पहले इसका अंदाज लगाकर कि भविष्य में वे कितनी सेवा कर सकेंगे, उस

कौटुम्बिक न्याय: यथाशक्ति प्रामाणिक श्रम और तुल्य वेतन व समान संरक्षण

हिसाब से उनके लिए खर्च नहीं किया जाता। वरन्, मां-बाप मानते हैं कि इन बालकों की परवरिश करना उनकी जिम्मेवारी है। हरएक व्यक्ति के संबंध में यह जिम्मेवारी राज्यव्यवस्था को स्वकर्त्तव्य मानकर उठानी है। उसी प्रकार व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति स्वकर्त्तव्य की भावना से समाज-सेवा की भेंट कर देनी है। लेकिन व्यक्तिकृत सेवा का समाजकृत संरक्षण से समीकरण नहीं करना है। सारे व्यक्तियों की सम्मिलित समाज-सेवा और समाज-कृत सारे व्यक्तियों का सम्मिलित संरक्षण——इनका समीकरण होगा।

इसके अतिरिक्त यहां संरक्षण और मजदूरी या पारिश्रमिक के बीच का फर्क भी समझ लेना जरूरी है। प्रत्येक व्यक्ति को संरक्षण बिलकुल समान मिलेगा; लेकिन यह बात नहीं कि मजदूरी या वेतन भी समान दिया जायगा, क्योंकि समान मजदूरी देने भर से समान संरक्षण मिल जाता हो, ऐसी बात नहीं। समान संरक्षण का दायित्व पूरा करने के लिए जिसे जितनी मजदूरी की जरूरत है, उसे उतनी देनी होगी। इससे यह फलित निकल सकता है कि अधिक शक्तिशाली लेकिन कम आवश्यकतावाले व्यक्ति को कम मजदूरी दी जायगी और अल्प शक्तिशाली परन्तु ज्यादा आवश्यकतावाले व्यक्ति को ज्यादा मजदूरी दी जायगी। ऐसे एक सेनापति को जिसका हाजमा अच्छा है, दो आने रोज मिल सकेगा और कमजोर हाजमावाले सिपाही को रुपया रोज मिल सकेगा।

(४५) सारांश, ये सब सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार होंगेः——

मीमांसा का निष्कर्ष

(१) हर को संरक्षण समान मिलेगा। (२) हर से सेवा यथाशक्ति यानी असमान मिलेगी। (३)

संरक्षण समान मिलने का अर्थ वेतन का समान मिलना नहीं है। (४) लेकिन वेतन-वेतन के बीच आज जितनी असमानता पाई जाती है, उतनी असमानता किसी हालत में नहीं रह सकेगी। (५) वेतन कम-से-कम असमान, या भावात्मक भाषा में, तुल्य होगा। (६) वेतन की असमानता सेवा की असमानता के तुल्य नहीं, बल्कि आवश्यकता की असमानता के तुल्य होगी। (७) सबकी सम्मिलित सेवा का सबको सम्मिलित रूप से मिले संरक्षण के साथ समान अनुपात रहेगा।

(४६) इन सात नियमों से निर्माण हो सकने वाली यह व्यवस्था कहींपर भी परिचित न हो, ऐसी बात नहीं। हमारे गांव में जब दस-पांच मजदूर मिलकर किसी काम का ठेका लेते हैं, तब वे सब समान कार्यो की सृष्टि नहीं करते, तो भी वे ठेके का बंटवारा बहुत दर्जे तक समान कर लेते हैं। इसमें जी चुरानेवाले को काम टालने का मौका नहीं मिलता और ईमानदार लेकिन कुछ कमज़ोर आदमी को थोड़ी रिआयत मिल सकती है। सामुदायिक न्याय के कारण काम में जोश दाखिल होता है और भ्रातृभाव बढ़ता है। इसी बात को सर्व-समाज-व्यापी बना देना जरा भी असम्भव नहीं है।

ठेकेदारों का दृष्टान्त और श्रमभेदों का समाधान

शारीरिक परिश्रम के उपविभागों के विषय में इस व्यवस्था के प्रयोग में बहुत करके कोई कठिनाई नहीं होगी। लेकिन मुख्य अड़चन है शारीरिक और मानसिक परिश्रमों की कीमत समान ठहराने के बारे में। शिक्षितवर्ग की ओर से यह प्रश्न जटिल होगा। लेकिन इस व्यवस्था से निर्मित भ्रातृभाव की बदौलत जो संरक्षण और संतोष मिलेगा, उसपर अगर ठीक-ठीक ध्यान दिया जाय तो दरअसल यह अड़चन नहीं रहनी चाहिए। स्त्री-पुरुषों के वेतन में असमानता तो बिलकुल बे-

बुनियाद है। स्त्रियों के कार्य में अधिक सातत्य, सावधानी और कला पाई जाती है। इसके विपरीत, कुछ ज्यादा मेहनत के काम आम तौर पर स्त्रियां नहीं कर सकतीं। अर्थात कुल मिलाकर दोनों तरफ से आर्थिक समानता कायम करने में कोई कठिनाई नहीं है। स्त्री-पुरुष-भेद, शरीर-परिश्रम के उपभेद, शारीरिक और मानसिक परिश्रम का भेद, मानसिक परिश्रम के अन्तर्गत भेद, ये सारे राष्ट्रीय दृष्टि से समान भूमिका पर हैं। प्रामाणिक और अप्रामाणिक—यह वास्तविक भेद है। उसी प्रकार कुशल और अकुशल का भेद भी अनिवार्य है। अप्रामाणिकता को संरक्षण देने की जिम्मेवारी तो नहीं, लेकिन उसे सुधारने की जिम्मेवारी राज्यसत्ता पर अवश्य है। और सुधार की जिम्मेवारी स्वीकारने पर आनुषंगिकरूप से संरक्षण भी उसमें आ ही जाता है। अकुशल परिश्रम को कुशल बनवाते जाना भी राज्यव्यवस्था का ही अंग है। तथापि कुछ परिश्रम स्वभावतः ही कम कुशल होते हैं और उनकी राष्ट्र को आवश्यकता भी होती है। ऐसे कामों पर कम कुशल व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते हैं।

सामुदायिक जिम्मेवारी उत्कृष्ट प्रेरक तत्त्व

(४७) आज यह मान लिया गया है कि राष्ट्र की कुशलता, प्रामाणिकता, उत्साह और जिम्मेवारी को प्रोत्साहन देने का एकमात्र मार्ग कम या अधिक वेतन देना है।' लेकिन उसकी अपेक्षा सामुदायिक जिम्मेवारी मनुष्य को कहीं अधिक प्रेरणा देनेवाली वस्तु है। कारण, सामाजिक गौरव और आत्म-संतोष उसमें निहित हैं। लड़के के लिए मां की शाबाशी जितनी उत्साहवर्धक हो सकती है, उतने सैकड़ों अवान्तर पारितोषिक नहीं हो सकते। और यदि कुछ उत्साहवर्धक हों भी तो साथ ही वे लोभ-वर्धक भी होते हैं। अतः सामाजिक गौरव को और उससे भी बढ़कर आत्म-

संतोष को ही प्रेरक तत्त्व मानकर तुल्यता के सिद्धान्त पर आर्थिक व्यवस्था करने के सिवा सार्वत्रिक 'सन्तुलन' का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है।

इस दृष्टि से हिन्दूधर्म का एक महान् प्रयोग : वर्णव्यवस्था

(४८) इस दृष्टि से वर्णव्यवस्था की कल्पना करके हिन्दू धर्म ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। लेकिन उसमें ऊंच-नीच के भाव घुस जाने के कारण उसका असली विशुद्ध रूप दूषित हो गया और आगे चलकर तो आर्थिक प्रतियोगिता के लालच की बदौलत बिलकुल बरबाद ही हो गया। व्यक्ति समाज का दिया हुआ काम करे, समाज व्यक्ति की योग्यता देखकर उसे काम दे, योग्यता के विकास में आनुवंशिक संस्कारों की सहायता ली जाय, तदनुरूप तैयार होकर उस कार्य को उठाना व्यक्ति अपना कर्तव्य समझे, दूसरे कोई व्यक्ति उसमें उससे प्रतिद्वंद्विता न करें, सबको समान संरक्षण और तुल्य वेतन मिले, जिम्मेवारी से अपने-अपने काम करनेवाले तमाम व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ के नाते समकक्ष माने जायं और उनकी स्वकर्मरूप पूजा से भगवान् प्रसन्न हों——इस प्रकार, थोड़े में वर्णव्यवस्था का स्वरूप है।

इसी तरह की किसी-न-किसी व्यवस्था की जरूरत आदर्श राज्य-पद्धति को होगी। (१) वेतन की तुल्यता, (२) होड़ का अभाव, (३) आनुवंशिक संस्कार से लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजना——यह वर्णव्यवस्था का सार है। पहले दो सिद्धांत अर्थशास्त्र के महान् प्रमेय हैं और तीसरा समाजशास्त्रीय है। कुछ लोगों के खयाल से यह विवादास्पद है। यदि वैसा साबित हो तो भी पहले दो अबाधित ही रहेंगे और तब उतने ही आधार पर व्यवस्था स्थिर करनी पड़ेगी। परन्तु विचार और अनुभव की कसौटी पर कसने के बाद अगर तीसरी बात भी निर्विवाद-

रूप से खरी उतरे—और ऐसा होना बहुत संभव है—तो उच्चनीच-भाव की कल्पना किये बिना और उसे बिलकुल एक फौलादी चौखटे का रूप न देते हुए, वर्णव्यवस्था का ही पुनरुज्जीवन करना पड़ेगा।

× × ×

आग्रह प्रकार का चाहिए, न कि आकार का

(४९) सेवाभाव, स्वावलम्बन, अहिंसक त्राण और तुल्य पारिश्रमिक—इन चार खंभों पर राज्यपद्धति का भवन खड़ा करना चाहिए। राज्यपद्धति का स्थूल आकार सामाजिक मनोभूमिका और स्थानिक एवं कालिक अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। जिस कुटुम्ब में मां-बाप और बिलकुल छोटी उम्र के बच्चे हों उसका स्वरूप एक तरह का होगा, जिसमें मां-बाप और जवान लड़के-लड़कियां हों उसका दूसरी तरह का और जिसमें बिलकुल बूढ़े मां-बाप और प्रौढ़ लड़के-लड़कियां हों, उसका तीसरी तरह का। इसी तरह बड़ा कुटुम्ब, छोटा कुटुम्ब, सामुदायिक कुटुम्ब, विभक्त कुटुम्ब आदि कई कल्पनाएं नैसर्गिक और औपाधिक भेदों के कारण की जा सकती हैं। इनसब कुटुम्बों में कौटुम्बिक तत्त्व एक ही रहेगा। स्थूल पद्धति अलग-अलग मानी जा सकती है।

चिकित्सा-पद्धतियों के अभिमानी चिकित्साग्रही बन जाते हैं। उसी तरह राजनैतिक विचारक, भिन्न-भिन्न वादों के समर्थक और अभिमानी बनकर कहने लगते हैं कि अमुक वाद या पद्धति सभी देशों या सभी कालों के लिए लागू होनी चाहिए। लेकिन गणित जैसे स्थिर शास्त्र को भी आज सापेक्षवाद का कायल होना पड़ रहा है। राजनीतिशास्त्र या समाजशास्त्र तो स्थूल अर्थ में स्थिरता का दावा कभी कर ही नहीं सकता।

वस्तुतः ऐसे मूलभूत शास्त्र बहुत थोड़े हैं जिन्हें 'शास्त्र' संज्ञा तत्त्वतः लागू हो सके, और वे हैं मनुष्य के नियामक। दूसरे सारे शास्त्र—जो शास्त्र के नाम से पहचाने जाते हैं—केवल व्यावहारिक नियमन हैं तथा मनुष्यों द्वारा कल्पित और मनुष्यों द्वारा ही नियम्य हैं। नियामक शास्त्र और नियम्य शास्त्रों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। इसका ध्यान न रखते हुए नियम्य शास्त्रों को भी नियामक शास्त्र का रूप देने की चेष्टा करना अशास्त्रीय बुद्धि का लक्षण है।

इसलिए जन-सुखदायी और जन-हितकारी राज्य-पद्धति में जो चार आवश्यक प्रमेय हैं, उन्हींका आग्रह रखकर अवान्तर सारी बातें तत्कालीन आवश्यकता पर छोड़ देना उचित है।

ही छोड़ देना होगा। इसके सिवा तीसरा कोई रास्ता यूरोप के पराक्रमी और प्रयोगी लोगों ने भी बाकी नहीं रहने दिया है। शायद अब इतना ही बाकी रह जाता है कि एक संकुलयुद्ध में परास्त राष्ट्र दूसरे अनेक राष्ट्रों की सहायता लेकर राष्ट्रों के संकुलयुद्ध की बजाय राष्ट्रसंघों का खण्डों के संकुलयुद्ध करे। लेकिन यह सिलसिला कितना भी बढ़ाया जाय तो भी उसके बढ़ने की अब गुंजाइश नहीं रही है। हिंसा के व्यापकतम और पराकाष्ठा के प्रयोग के बाद हिंसा आत्मघात करके अहिंसा को स्थान दे दे, इसके सिवा गत्यन्तर नहीं है। केवल विवेकी लोकमत ही नहीं, अपितु सर्वसाधारण लोकमत भी इसी निर्णय पर पहुंचा है या पहुंचना चाहता है।

अहिंसा में 'सेर के लिए सवा सेर' नहीं

(५२) इस प्रकार हमारे विचार-क्षेत्र में से हिंसा की पद्धति तर्क कर देने के बाद अहिंसा की ही पद्धति बाकी रह जाती है। और फिर अहिंसा के बारे में शंका या संदेह की गुंजाइश न रह कर गुंजाइश केवल उसके श्रद्धापूर्वक प्रयोग की ही रह जाती है। 'सेर के लिए सवा सेर' वाला न्याय अहिंसा में बाधक नहीं होता। मुझसे जिसकी अहिंसा अधिक हो, वह मुझे कुचलना नहीं चाहता मेरा हृदय-परिवर्तन करना चाहता है। उसमें उसे स्वभावतः सफलता मिलती है और मेरे लिए भी वह सफलता ही साबित होती है। 'एक की जीत याने दूसरे की हार', यह रीति हिंसा की है। अहिंसा में तो जो एक की जीत है, वही दूसरे की जीत है। अगर कोई वादविषयक प्रश्न शेष रह ही जाय तो अहिंसा का तरीका अत्यंत सरल है. वह तटस्थ पंचों को सौंप दिया जाय।

(५३) अहिंसा का इस ढंग का राष्ट्रीय प्रयोग एक तरह से व्यक्तिगत प्रयोग की अपेक्षा अधिक सुगम होगा; क्योंकि

अहिंसा का राष्ट्रव्यापी प्रयोग एक तरह से व्यक्तिगत प्रयोग की अपेक्षा सुलभतर

व्यक्तियों के संबंध में तो उनमें विरोध पैदा होकर उनमें से अहिंसक व्यक्ति की अहिंसा का असर हिंसक व्यक्ति के चित्त पर होने से पहले ही या बगैर उसको मौका मिले ही, यह हो सकता है कि हिंसक व्यक्ति आपे से बाहर होकर उसका काम तमाम कर दे। ऐसी सम्भावना व्यक्तिगत संबंधों में ही होती है; लेकिन राष्ट्रों के संबंध में इस तरह की कोई संभावना नही होती। दो राष्ट्रों में विरोध उपस्थित हो गया है, उनमे से एक समूचे राष्ट्र ने एकाएक पागल होकर दूसरे अहिसक राष्ट्र का उसकी अहिसा से प्रभावित होने से पहले ही, अचानक सफाया कर दिया है, इस तरह की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन हम देखते है कि व्यक्तिगत युद्ध मे, जहां कि व्यक्ति के पागल हो जाने की संभावना होती है, असिहक व्यक्ति ने हिसक व्यक्ति पर करीब-करीब हमेशा विजय पाई है। तो फिर राष्ट्रीय युद्ध मे, यानी जहा ऐसे दीवानेपन की गुंजाइश नही है, अहिंसा का आश्रय ले कर सज्जित होनेवाला राष्ट्र विजयी क्यों न हो, इसका कोई उत्तर नहीं है। इसके अलावा हिसा की तरह जहां 'एक की जय और दूसरे की क्षय' ऐसा हाल नही है, अहिसक राष्ट्र की विजय के विषय मे संदेह करने का कोई कारण ही नहीं होना चाहिए।

(५४) 'या तो अहिसक राज्यपद्धति या संकुलयुद्ध की तैयारी?'—इस तरह की समस्या उपस्थित होने पर अहिंसा का रास्ता अपने आप ही खुल तो जाता है, लेकिन फिर भी अहिसक राज्यपद्धति के लिए संगठन और शिक्षण-प्रचार आदि की आवश्यकता रहेगी ही। संकुल-

अहिंसा के लिए भी शिक्षा, संगठन और त्याग अनिवार्य

युद्ध के लिए जिस प्रकार के संगठन की जरूरत होती है, उसकी अपेक्षा अहिंसा का संगठन यद्यपि भिन्न प्रकार का होगा, तथापि उसे इतना व्यापक होना पड़ेगा कि वह जनता के प्रत्येक व्यक्ति को स्पर्श कर सके। इस विषय में योजना ऊपर सुझाई ही है। उसे कार्यान्वित करने के पहले अहिंसा की ओर सहज ही प्रवृत्त लोकमत को ज्ञानपूर्वक अहिंसक बनना पड़ेगा। यों तो सर्वसाधारण जनता की वृत्ति हमेशा ही अहिंसक होती है; लेकिन वह तत्त्वज्ञान से अहिंसक बननी चाहिए। मतलब यह कि निष्क्रिय अहिंसा से काम नहीं चलेगा। उसके बदले सक्रिय—जीवन के सभी क्षेत्रों को व्यापनेवाली—अहिंसा की जरूरत होगी। अहिंसा एक सार्वभौम निष्ठा या दर्शन है। दर्शन एकांगी नहीं होता, वह जीवनव्यापी होना चाहिए। अगर यह मान लिया जाय कि समाज की आर्थिक सामाजिक वर्तमान रचना ज्यों-की-त्यों रहेगी तो अहिंसा के लिए उसमें गुंजाइश कैसे रहेगी ? लेकिन अगर राष्ट्र के अन्तर्व्यवहार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की कुल व्यवस्था अहिंसा के सिद्धांत के आधार पर खड़ी की जाय तो अहिंसा में ऐसी कोई वजह नहीं है कि वह व्यवस्था टिक न सके।

आज हम देखते हैं कि हिंसक राज्यपद्धति की रक्षा के लिए राष्ट्रों को जबर्दस्त त्याग करना पड़ता है; लेकिन अहिंसक पद्धति की रक्षा की कल्पना करते समय अलबत्ते आशा की जाती है कि शरीर और संपत्ति को जरा भी धक्का लगे बिना ही काम बन जाना चाहिए। यद्यपि अहिंसक संरक्षण सब तरह से कुशल है, तथापि यह आश्वासन नहीं है कि वह यों ही अनायास संपन्न हो जायगा। कल्पनाशक्ति को थोड़ी गति देकर आत्मक्लेश और प्राणार्पण के लिए—प्रतिपक्षी को जरा भी पीड़ा न देते हुए शांत प्राणार्पण के लिए—तैयार रहना होगा। अहिंसा की लड़ाई रणक्षेत्र में नहीं, हृदयक्षेत्र में होती है।

लेकिन लड़ाई के लिए तैयारी तो अहिंसा में चाहिए ही। सारे संसार में अहिंसा का प्रचार हो जाने के बाद भी तैयारी की यह जरूरत न रहे, ऐसी बात नहीं। कभी एक बार का कमाया हुआ जन्मभर खाने की गुंजाइश न तो हिंसा में है, और न अहिंसा ही में। प्रतिकारशक्ति सर्वदा जाग्रत रखनी ही होगी। अहिंसक जीवन के माने प्रासंगिक त्याग ही नहीं, वरन् निरन्तर त्याग है और निरा त्याग ही नहीं, अपितु त्याग का आनन्द भी।

अहिंसक व्यवस्था अतिमानवीय नहीं है

(५५) लेकिन बहुतों को यह शंका होती है कि यह सब हो कैसे? कोई पूछते हैं कि इसके लिए कहीं अति-मानवों की जरूरत तो न होगी? अति-मानवों की कल्पना करने के बाद प्रतिकार का सवाल ही नहीं उठता। जब हम प्रतिकार की बात कहते हैं तब हम सामान्य मानवकोटि का ही विचार करते हैं। केवल पशुत्व को ही बाद देते हैं। और यह भी अपेक्षा नहीं करते कि पशुत्व सभी मनुष्यों में से सर्वथा नष्ट हो जायगा। इतनी ही अपेक्षा करते हैं कि पशुत्व मनुष्यता के अंकुश में रहे। इसलिए अहिंसक रचना करना किसी भी तरह अशक्य नहीं है। और ऐसी अहिंसक रचना जितनी स्थायी होगी, उतनी दूसरी कोई भी व्यवस्था नहीं हो सकती।

प्रश्न पांचवां

प्रश्न––जब कि दूसरे सभी राष्ट्र हिंसावादी हैं, क्या कोई एक राष्ट्र अकेला अहिंसावादी रह सकता है ?

उत्तर––(५६) अहिंसक विचार-प्रणाली के अनुसार एक ही मानव-समाज में विभिन्न राष्ट्रों की कल्पना केवल सुभीते की ही बुनियाद पर की जा सकती है।

अकेला भी अहिंसक राष्ट्र सार्वभौम सहानुभूति के वज्रकवच में सुरक्षित

किसी भी एक राष्ट्र को अगर अहिंसा की सुबुद्धि प्राप्त हो जाय तो वह राष्ट्र अपने आपको दूसरे राष्ट्रों से पृथक् और विरोधी नहीं मानेगा। आसपास के राष्ट्रों के उचित हितसम्बन्धों की रक्षा की वह उतनी ही चिन्ता करेगा, जितनी कि अपने निज के। हिंसावादी होने पर भी राष्ट्र समूचे दीवाने हरगिज़ नही होते। बल्कि यह कहना चाहिए कि राष्ट्र एक-दूसरे की स्पर्धा के कारण हिंसावादी बने हैं। मनुष्य को केवल हिंसा के लिए हिंसा नहीं भाती। इसलिए अगर कोई ऐसा राष्ट्र जो अहिंसक विचार के अनुसार व्यवहार करने की इच्छा रखता है और उसीके अनुरूप दुनिया से अविरोधी सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करता है तो वह आसपास के राष्ट्रों की विवेकवृत्ति को जगाकर, उसे गति देगा और उतने अंश में उन राष्ट्रों को अहिंसा के रास्ते पर लायगा।

अहिंसक राष्ट्र जबरदस्ती अपना माल दूसरों पर नहीं लादेगा। अहिंसक राष्ट्र में हरएक गांव श्रमनिष्ठ और स्वाव-

लम्बी रहेगा। इसलिए दूसरे राष्ट्रों की लोभवृत्ति के लिए उसमें गुंजाइश नहीं होगी। अगर दूसरे राष्ट्र उसके और अपने हितसम्बन्धों में विरोध मानें तो उसमें से रास्ता निकालने के लिए और उनको पूरी तरह सन्तोष देने के लिए मित्रता की भावना से मदद करेगा। दूसरे राष्ट्रों पर अकालादि संकट आ पड़ें तो उनकी यथासम्भव सेवा निष्कामभाव से करेगा। वादविषयक प्रश्न पंचों को सौंपने के लिए तैयार रहेगा। दूसरे राष्ट्र अगर पंचों द्वारा न्याय कराने को राजी न हों, या राजी होने पर भी उनका फैसला न मानें और उसपर धावा बोल दें तो वह उनका अहिंसक प्रतिकार करेगा। इस तरह की वृत्ति रखनेवाला अकेला राष्ट्र एकाकी नहीं रहेगा। वह सारी दुनिया भर में अपने लिए सहानुभूति का वज्रकवच निर्माण करेगा। ऐसे राष्ट्र की कल्पना करना असम्भव क्यों हो?

अहिंसक राष्ट्र अकुतोभय

(५७) अच्छा, अगर बाहरी राष्ट्र आक्रमण करना चाहेंगे, तो क्यों––(अ) क्या इसलिए कि उनके पास जमीन कम और जनसंख्या अधिक है, और हमारे पास जमीन भरपूर और लोकसंख्या अल्प है? अगर ऐसा हो तो उनमें से जो लोग हमारे देश में रहना चाहते होंगे और यहां की व्यवस्था में शरीक होना चाहते होंगे, उनका हम स्वागत ही क्यों न करेंगे? ऊपर कहा जा चुका है कि अहिंसक राष्ट्र अपने आपको पृथक् नहीं मानता। प्राचीन हिन्दुस्तान की वृत्ति शास्त्रीय और परिनिष्ठित अहिंसा की न कही जा सके तो भी क्या हिन्दुस्तान ने संकटग्रस्त पारसियों को जगह नहीं दी? और उससे हिन्दुस्तान का क्या नुकसान हुआ? (आ) अथवा क्या दूसरे राष्ट्र दुर्भिक्षादि किसी आपत्ति के कारण चढ़ाई करेंगे? अहिंसक राष्ट्र स्वयं थोड़ी-बहुत मुसीबत उठाकर भी ऐसों की मदद किये बिना कैसे रहेगा? (इ) अथवा

लोभवृत्ति के अधीन होकर व्यापार की मण्डी पर कब्जा करने के लिए हमपर कोई आक्रमण करेगा ? लोभ की ताली एक हाथ से कभी नहीं बजती । हम अगर आलसी या विलासी होंगे तो पड़ोसी के लोभ के लिए हम मौका देंगे । लेकिन वैसी हालत में हम अहिंसक ही नहीं होंगे । (ई) अथवा क्या हमपर आक्रमण का आयोजन सरहद पर रहनेवाले सम्मिश्र समाज के अन्तर्गत विदेशियों के हित-सम्बन्धों के झमेले के कारण होगा ? उस हालत में इस समस्या का ऐसा सभाधान साधना, जो दोनों पक्षों को मान्य हो, दुर्बल अहिंसावाले राष्ट्र के लिए असम्भव भले ही हो, पर वीर्यवती अहिंसावाले राष्ट्र के लिए सम्भव क्यों न होगा ?

और मान लीजिए कि आखिर लड़ाई तक ही नौबत आ गई तो हिंसा ने आजतक राष्ट्रों को जितना संरक्षण दिया, उससे कम संरक्षण उस राष्ट्र को अहिंसा से क्यों मिलेगा, जिसमें आमरण कष्ट झेलनेवाले वीर सन्नद्ध हों ?

दुर्बल अहिंसा का लक्षण, उसमें रक्षण का अभाव

(५८) सच तो यह है कि किसी राष्ट्र के अहिंसावादी बनने पर उसके स्थायित्व के विषय में जो संदेह उठता है, उसमें कल्पनाशक्ति की कमी है । वस्तुतः आज हिंसक लड़ाई करनेवाले लोगों को कुछ कम कष्ट उठाने पड़ते हों, सो बात नहीं है । इतनी सारी आहुतियां और बलिदान हिंसा की वेदी पर चढ़ाने के बाद जो लाभ होता है, उसकी अपेक्षा उसी बलिदान को अहिंसा के लिए करने की तैयारी मान लिया जाय तो कम लाभ होगा, यह कल्पना मानसशास्त्र मंजूर नहीं करेगा । लेकिन हिंसा के लिए जो बहुत भारी बलिदान की कल्पना करके, अहिंसा के लिए अल्प बलिदान या अबलिदान की कल्पना की जाती है, यह दुर्बल अहिंसा है । ऐसी अहिंसा दुनिया में टिकनहीं सकती, यह बात पक्की है ।

(५९) लेकिन भीतरी अराजकता और बाहरी आक्रमण ये दो भय हमारी कल्पना को हमेशा परेशान करते रहते हैं। जब अहिंसक राज्यपद्धति सबके सुख के लिए प्रतिज्ञा किये बैठी है, तब इस तरह के भय से वह भयभीत न होगी। सबकी पारस्परिक अविरोधपूर्वक चिन्ता करने-वाली व्यवस्था के प्रचलित होते हुए भी, और हर किसी के दुःख का निवारण करने की सुविधा होते हुए भी, अगर कोई दंगाफसाद करने पर आमादा हो जाय तो उसका बन्दोवस्त करने की बहुत बड़ी समस्या प्रश्नोत्तर का विषय नहीं होनी चाहिए। अहिंसक व्यवस्था में यह स्थिति गृहीत है कि जनसेवक साधारणतः अपने-अपने आसपास के लोगों की सेवा करते हुए सबके निकट सम्पर्क में आते हैं। यह मान लेने पर कि ऐसे सेवकों की स्वयं-सेना सर्वत्र मौजूद है, एकाध जगह अगर बलवा हो जाय तो वह थोड़े-से बलिदान की तैयारी से शान्त किया जा सकेगा। 'जिन्होंने हमारी सेवा की है, वे हमारे परिचित बंधु हमारे विरोध में मरने के लिए तैयार हैं और हमें अभयदान देकर चाहे जब हमारी शिकायतें सुनने को प्रस्तुत हैं'—यह दृश्य दंगा शान्त करने के लिए पर्याप्त माना जाना चाहिए।

अहिंसक व्यवस्था भीतरी अराजकता और बाहरी आक्रमण से निर्भय

(६०) लोग पूछते हैं, "तुम्हारी राज्यपद्धति में फौज नहीं तो कम-से-कम पुलिस रहेगी या नहीं ?" जवाब देनेवाले जवाब देते हैं, "पुलिस रहेगी, मगर कुछ और ढंग की।" लेकिन इससे दूसरी भाषा में यह क्यों नहीं कहा जाता कि "पुलिस नहीं रहेगी, जागरूक सेवक-वर्ग रहेगा और रहेंगे स्वकर्त्तव्य का भान रखनेवाले नागरिक ?" ऐसा उत्तर नहीं

आदर्श अहिंसक व्यवस्था में पुलिस नहीं, सेवक-वर्ग रहेगा

दिया जाता—क्योंकि ये प्रश्नोत्तर आदर्श व्यवस्था के विषय में नहीं हैं; किन्तु फिलहाल अहिंसा के मार्ग पर हमारी गति-विधि के अनुसार वर्तमान परिस्थिति का विचार न छोड़ते हुए हमारी कल्पनाशक्ति जितनी दूर तक देख सकती है उसके अनुसार दिये गए हैं।